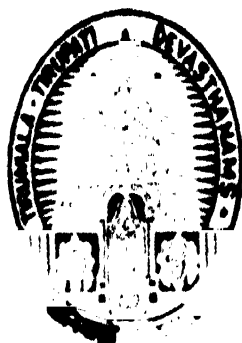
तीर्थराज तिरुपति

(तिरुमल-तिरुपति मंदिरों का संक्षिप्त इतिहास)

लेखक

डॉ. एम्. संगमेशम्, एम.ए., पी-एच.डी.,

तिरुपति.

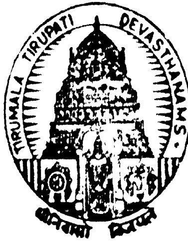


तीर्थराज तिरुपति

(तिरुमल-तिरुपति मंदिरों का संक्षिप्त इतिहास)

लेखक

डॉ. एम्. संगमेशम्, एम.ए., पी-एच.डी.,
तिरुपति.



प्रकाशक

पी. वी. आर. के. प्रसादजी, आइ.ए.एस.,
कार्यनिर्वहणाधिकारी
तिरुमल-तिरुपति देवस्थान, तिरुपति
चित्तूर जिला - आंध्र प्रदेश.

१९८०

TIRTHARĀJ TIRUPATI

by

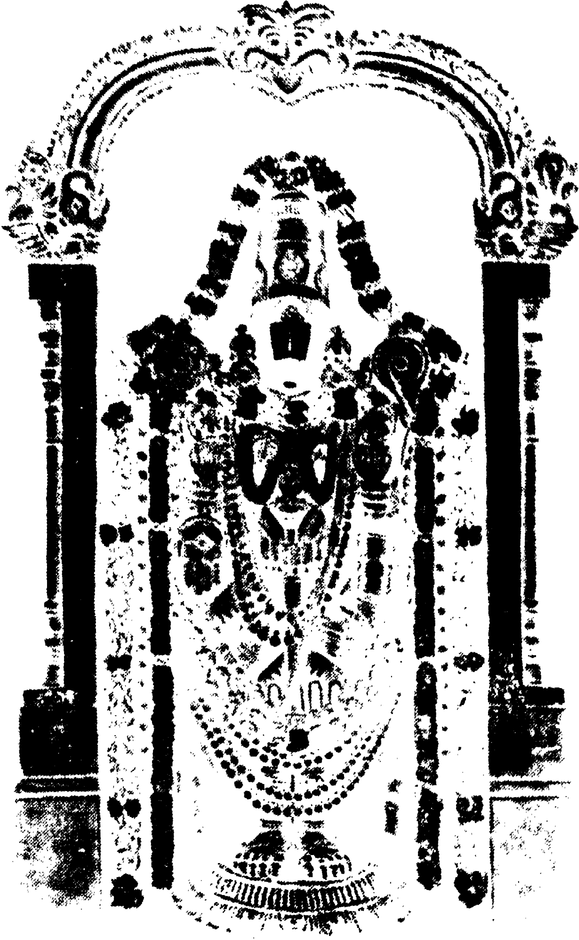
Dr. M. SANGAMESAM, M.A., Ph.D.,

First Edition
Copies : 10,000

Published by :
P. V. R. K. PRASAD, I.A.S.,
Executive Officer,
T. T. Devasthanams,
Tirupati.

Subsidised Price
Rs. 1-00

Printed at :
Tirumala Tirupati Devasthanams Press,
Tirupati.



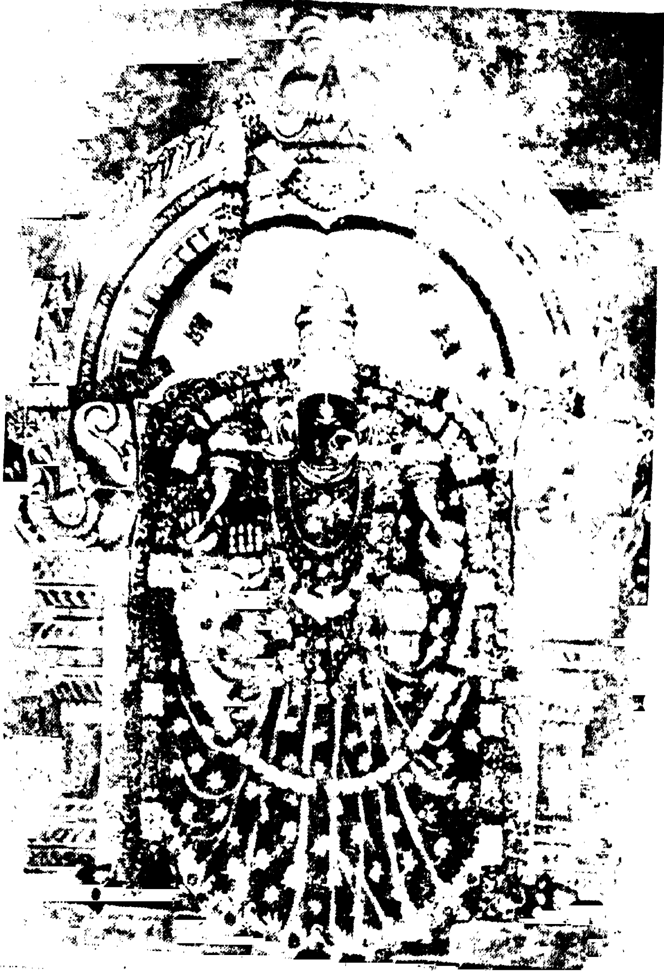
भगवान बालाजी (श्री वेंकटेश्वर)

दो बातें

तिरुमल-तिरुपति-मंदिरों का यह संक्षिप्त इतिहास पहले देवस्थान के मास-पत्र में प्रकाशित हुआ और अब पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। यों तो इन मंदिरों का इतिहास अंग्रेजी में विभिन्न लेखकों से लिखा मिलता है, किंतु हिन्दी में इसका प्रकाशन अभी पहली बार हो रहा है। फिर, इस रचना में इस बात को जानने का ज्यादा यत्न किया गया है कि स्थानिक व समूचे दक्षिण के धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, साहित्यिक जैसे सभी क्षेत्रों में इन मंदिरों का कितना प्रभाव परिलक्षित होता आया। पौराणिक कथाओं में निहित ऐतिहासिक तथ्यों को जानने का प्रयत्न किया गया है। सैकडों की तादाद में मिलने-वाले दान-लेखों का पूरा पूरा उपयोग किया गया है। जहां तक हो सके, संक्षेप में होने पर भी, यह इतिहास अपने में पूर्ण और भविष्य के शोधकर्ताओं को समग्र रूप से उपयुक्त बनने योग्य रचने का यत्न किया गया है। अब इस बात में सफलता का निर्णय पाठकों पर छोड दी जाती है

हिन्दी में इस इतिहास के प्रकाशन में उत्साह दिखाकर तिरुमल-तिरुपति देवस्थान के अधिकारी वर्ग, विशेष कर देवस्थान के कार्य-निर्वहण-अधिकारी श्री पी. वी. आर. के. प्रसाद जी, आइ. ए. एस., सभी हिन्दी-प्रेमियों की कृतज्ञता के पात्र बनते हैं। पुस्तक को अचिर काल में अतीव सुंदर रूप में मुद्रित व प्रकाशित करने में ति. ति. देवस्थान के मुद्रणालय के अधिकारी भी प्रशंसा के पात्र होते हैं। अब श्रीवेंकटेश्वर से यही प्रार्थना है कि वे अपने इस इतिहास को आप ही कृपया स्वीकार करें और इसके विशेष प्रचार का वरदान दें।

—लेखक



श्री पद्मावती देवी

तीर्थराज तिरुपति

विषय-सूची



पुष्करिणी, तिरुचानूर

तीर्थराज तिरुपति

* * *

आरंभिक इतिहास

भारत के प्रसिद्ध पुण्यक्षेत्रों में तिरुपति एक है। साल भर भारत के कोने कोने से यात्री लोग वहाँ आते हैं और वहाँ के भगवान बालाजी श्रीवेंकटेश्वर के दर्शन करते हैं। प्राकृतिक सौंदर्य से शोभित रह कर, पहाड़ और मैदान दोनों में फैला रहकर, अनेकानेक सलिल धाराओं से संपन्न होकर, अभीष्टवरद भगवान का आवास होकर सदियों से यह क्षेत्र आस्तिक हिन्दुओं को अपने यहाँ आकृष्ट करता आ रहा है और उनकी इह-पर साधना में योग देता आ रहा है।

पूर्वी घाटियों की एक शाखा वेला से हट कर देश के अंतरभाग में कर्नूल की ओर से जो बढ़ी है, उसी से तिरुपति का पहाड़ संबद्ध है। इसी पहाड़ को तिरुमलै अर्थात् श्रीगिरि कहते हैं। श्रीगिरि का नामसाम्य श्रीपर्वत (नागार्जुन कोंड) श्रीशैल आदि में भी मिलता है, अतः इसे तिरुमलै तिरुपति कहने में ही ज्यादा औचित्य दीखता है। पुराणों में इसे शेषाद्रि भी कहा गया है। असल में तिरुमलै पहाड़ सात पहाड़ों की एक श्रेणी है। पुराणों में इस पर्वत माला की आकृति की तुलना शेषनाग से की गयी है, जिस की पूंछ पर श्रीशैल, पीठ पर अहोबल और शिर पर तिरुपति क्षेत्र विराजमान बताये गये हैं।

इस क्षेत्र का प्राचीन इतिहास उतना स्पष्ट नहीं है। फिर भी ईस्वी सदी के आरंभ से इसके अस्तित्व का पता चलता है। प्राचीन तमिल साहित्य में इसका काफी उल्लेख मिलता है। तमिल साहित्य के अनुसार वेंगडम् या तिरुमलै पहाड़ तमिल देश की उत्तरी सीमा पर बसा है। इसी वेंगडम् या वेंकटगिरि या वेंकटाचल् के नाम पर यहाँ के भगवान का नाम भी वेंकटेश्वर पड़ा है। प्राचीन काल में यहाँ कुछ पहाड़ी लोग निवास करते थे। उनके नायक पुल्ली को तमिल साहित्य में बड़ा प्रतापी पहाड़ी राजा कहा गया है। तमिल साहित्य में तिरुपति के आस-पास वाले प्रदेश को अरुवनाडु और वहाँ के लोगों को अरुवलार कहा गया है। ये ही लोग इसके मूल निवासी मालूम पड़ते हैं। करिकालचोल के जमाने में इस प्रदेश पर चोलों का अधिकार हुआ। उपरोक्त पुल्ली करिकालचोल का समकालीन रहा होगा। करिकालचोल के बाद इस प्रदेश पर आन्ध्रशातवाहनों का अधिकार चला और उनके अधीन नागजाति के पदाधिकारी लोगों का शासन यहाँ लगातार दो सौ साल तक चलता रहा। भगवान वेंकटेश्वर की मूर्ति पर जो नागाभरण दीखते हैं और वेंकटेश्वर की मूर्ति में कुछ लोग सुब्रह्मण्य का

जो वर्शन करते हैं इसके मूल में इसी नागजाति के ऐतिहासिक संबंध का कारण मुख्य रहा हो। नागजाति के लोगों का बौद्ध धर्म से भी संबंध रहा था और बौद्ध सिद्धों का भी उनपर काफी प्रभाव चलता था। इसी कारण से हो, बौद्ध साहित्य के आधार पर यह भी कहा जाता है कि वेंकटेश्वर की मूर्ति असल में मंजुश्री की मूर्ति है, जिसकी स्थापना नागार्जुन के जमाने में हुयी हो।

शातवाहनों के बाद इस प्रदेश पर पल्लवों का अधिकार हुआ लेकिन तब भी इसका नागों से संबंध बना रहा। पल्लवराज वीरकूर्चवर्मा ने बनवासी के नागराज की बेटी से शादी कर ली और इस तरह वह पहले नागों का प्रीतिपात्र बना और बाद में उनका नायक बन गया। पल्लवों का समय दक्षिण में धार्मिक क्रांति का समय था। बौद्ध तथा जैन धर्मों पर हिंदू धर्म का प्रभाव इसी समय अधिकाधिक पड़ने लगा। अंत में हिन्दू धर्म की जीत हुई। पल्लवों के समय में ही दक्षिण में अनेकानेक भक्ति संप्रदाय जाग उठे। वैष्णव आल्वारों का भक्ति संप्रदाय इसी काल में शुरू हुआ। आल्वारों की श्रीसूक्तियों में भी वेंगडम् और वेंकटेश्वर की कितनी ही प्रशंसा हो पायी। भूतत्त और पोयिगै आल्वारों के अनुसार वेंकटेश्वर की मूर्ति शिवकेशव अभेद मूर्ति है। लेकिन बाकी आल्वारों ने इसमें भगवान विष्णु का ही रूप देखा। उस जमाने में इस प्रदेश को तोंडमंडल कहते थे और इसके शासकों के रूप में पल्लवों की प्रशस्ति गाने वाले एक दो शिलालेख भी मिलते हैं, जिनमें पल्लवराज दंतिवर्मा का उल्लेख हुआ है। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि ये शिलालेख पहाड पर रहने वाले वेंकटेश्वर के बदले नीचे तिरुचानूर में रहने वाले वेंकटेश्वर की एक प्रतिमूर्ति और उसके मंदिर से संबंध रखते हैं। शायद पहाड पर जाने के कष्ट से बचाने के लिए और यात्रियों की सुविधा के लिए उन दिनों में पहाड के नीचे ही, अर्थात् पाद प्रदेश में स्थित तिरुचानूर गाँव में वेंकटेश्वर की एक प्रतिमूर्ति स्थापित की गयी हो। अथवा यह भी ऐसी स्थापना का एक कारण हुआ हो कि पहाड पर की मंजु-श्री मूर्ति के साथ साथ नीचे तिरुचानूर में स्थापित पद्मश्री मूर्ति की बगल में मंजुश्री की प्रतिकृति का रखना ज्यादा औचित्य पूर्ण मालूम पडा हो, लेकिन अभिलेखों में मूर्ति का नाम तो तिरुवेंगडमुडयन् अर्थात् श्रीवेंकटेश्वर ही लिखा गया है।

पल्लवों के अधीन में रहने वाले बाणवंशीराजाओं के एक दो शिला लेख भी यहाँ मिलते हैं जिनमें विजियादित्य बाण का उल्लेख मिलता है. जो शायद नौवीं सदी के आरंभ में रहा हो। लेकिन इस सदी के अंत तक इस समूचे प्रदेश पर चोलों का आधिपत्य हो गया और तब से फिर तेरहवीं सदी तक उन्हीं का शासन चलता रहा।

चोलराज प्रथम परांतक का बेटा द्वितीय आदित्य जब तोंडमंडल का प्रादेशिक शासनाधिकारी रहा था तब पहाड पर के वेंकटेश्वर मंदिर में एक नयी

घटना घटी। पल्लवों के अधीन शासकों में से किसी एक की पत्नी समवायी नामक एक महिला ने वेंकटेश्वर की एक चांदी की प्रतिमूर्ति बनवायी और उसे [illegible]स के नाम पर मंदिर में देकर उसकी अर्चा और आराधना का क्रम जारी करवाया। यह घटना सन ९७० ईस्वी में घटी। इस काल के और दो तीन अभिलेखों से यह पता चलता है कि परांतक द्वितीय की राणी ने वेंकटेश्वर की मूर्ति को एक सुवर्ण पट्ट से विभूषित किया था। राजेन्द्र चोल के जमाने में इस क्षेत्र की और भी उन्नति की गयी और चोलों की शैवभक्ति का प्रभाव भी यहाँ प्रसारित हो गया और तभी कपिलतीर्थ के कपिलेश्वर मंदिर का निर्माण हो पाया। लेकिन इस काल में गुजरी हुयी कुछ अन्य घटनाओं ने इस बढ़ते हुये शैव संप्रदाय को कुछ हद तक सीमित रखकर वेंकटेश्वर मंदिर एवम् तिरुपति क्षेत्र में वैष्णव संप्रदाय के प्रबल होने में सहायता दी। इस जमाने में आचार्य नाथमुनि ने तिरुपति की यात्रा की थी। इसी तरह आचार्य आलवंदार भी यहाँ पधारे। यही नहीं, उन्होंने अपने पोता श्री तिरुमल नंबि को वेंकटेश्वर की नित्य सेवा में लगाया। इन्ही तिरुमल नंबि से रामायण तत्व के अध्ययन करने के लिए आचार्य श्रीरामानुज भी यहाँ आये। रामानुज ने ही तिरुपति में गोविंदराजस्वामी की स्थापना करवाई। यह प्रवाद भी प्रचलित है कि रामानुज ने ही वेंकटश्वर की मूर्ति को शंख चक्रधारी विष्णु की मूर्ति का आभास दिया था। जो हो, रामानुज के प्रयत्न से ही तिरुमलै पहाड़ और तिरुपति के मंदिरों में पूजा-अर्चना का एक समुचित क्रम जारी हो सका। तिरुपति शहर भी तब से उन्नति पाने लगा। तिरुमलै मंदिर का संबंध तिरुचानूर से हट कर तिरुपति से अधिक होता चला। तिरुचानूर सभैयार जो पहले तिरुमलै मंदिर का धर्मकर्ता रहा अब धीरे धीरे ओझल होता गया।

तिरुचानूर सभैयार वहाँ के कुछ प्रतिष्ठित सज्जनों का संघ था। तिरुचानूर और योगिमल्लवरम के मंदिरों पर उसका धर्मकर्तृत्व चलता था। ये मंदिर शैव और वैष्णव दोनों धर्मावलंबियों के होने से सभैयार की धार्मिक उदारता में कोई शंका नहीं की जा सकती। लेकिन उस काल की कुछ परिस्थितियों ने तिरुचानूर को वैष्णवों का एक प्रबल केंद्र बना दिया। दक्षिण के कितने ही उत्साही वैष्णव आचार्य लोग ईस्वी नौवीं व दसवीं सदियों में धर्मप्रचार के लिए दूर दूर तक जा बस गये। उनकी एक शाखा ने तिरुचानूर में अपना अड्डा जमा लिया। योगिमल्लवरम के शिवमंदिर से तिरुचानूर के वैष्णव मंदिरों की मानों एक स्पर्धा सी हो उठी। तिरुमलै पहाड़ जानेवाले भक्तों को भी रास्ते में अटका कर तिरुचानूर में स्थापित तिरुवेंगडमुडयन अर्थात् श्रीवेंकटेश्वर की प्रतिमूर्ति के दर्शन कराके तिरुमलै यात्रा का पुण्य तिरुचानूर में ही दिलाया जाने लगा। साथ साथ कितने ही लोगों को वैष्णव दीक्षा भी दी जाने लगी। दिनों दिन वैष्णवों का प्रभाव

बढ़ता गया। तिरुमलै मंदिर के दुर्गम पहाडों में होने के कारण उसकी नित्य आराधना व अर्चा में भी कुछ दिक्कत होती थी। अतः तिरुचानूर में ही स्वामपाद तिरुवेंगड मुडयन के समक्ष तिरुमलै के वेंकटेश्वर मंदिर के लिए भी दान-धर्म, धूप-दीप आदि का निवेदन चढाया जाता था। श्री नाथमुनिजी के समय तक यह रिवाज जोरों पर था। तभी श्रीआलवंदार ने तिरुमलनंबि को तिरुमलै पहाड पर ही बसने का और मंदिर की नित्यसेवा में रहने का आदेश दिया। फिर भोग श्रीनिवासमूर्ति की प्रतिष्ठा और अर्चा का क्रम जारी होने के बाद, तिरुमलै मंदिर का यश क्रमशः बढ़ने लगा। आरंभ में कुछ काल तक तिरुचानूर सभैयार का ही धर्मकर्तृत्व यथापूर्व चलता रहा, लेकिन श्रीरामानुज के समय में इसमें थोडा संस्कार हो पाया।

यादवों का शासनकाल

उस जमाने में तिरुमलै-तिरुपति प्रदेश पर चोलों के अधीन शासकों के रूप में स्थानिक यादवों का शासन चलता था। ये यादव वंशी राजा श्रीवेंकटेश्वर को अपने इष्टदेव मानते थे और मंदिर की इतिवृद्धि में भरसक योग देते थे। इस वंश के मूलपुरुष घट्टिदेव को श्री रामानुज का समकालीन बताया जाता है। उसके पुत्र राजमल्ल ने यादव नारायण की कीर्ति बढाई। राजमल्ल के पुत्र तिरुकालट्टिदेव के समय में यादवों का अधिकार कांचीपुर और तिरुवण्णामलै तक विस्तृत हुआ। इस वंश में वीरनरसिंहराय का नाम सबसे प्रसिद्ध है जिसका राज्यकाल सन १२०९-६२ ई. माना जाता है। यह पहले चोलराजाओं के अधीन रहा किंतु बाद में पांड्यों का सामंत बन गया। चोलों की सत्ता जब बलहीन हो चली तब पांड्यों ने उससे लाभ उठाना चाहा। उसी समय तोंडमंडल के कितने ही तेलुगु पल्लव व चोल सामंतों ने अपने को स्वतंत्र बता के सारे तोंडमंडल पर अपना एकाधिपत्य जमाने के प्रयत्न किये। ऐसों में सेंदमंगलम के कादवराय और उसके पुत्र कडुगमल्ल बहुत प्रसिद्ध हुये, जिन्होंने तोंडमंडल पर कई चढाइयाँ कीं और यादवों से भी सन १२४३ ई. में उरट्टूर के पास युद्ध किया। इसी तरह नेल्लूर के अल्लून तिरुकालट्टिदेव ने भी अपना अधिकार बढाते हुए कांचीपुर तक विजययात्रा की। लेकिन इन सबको मारवर्म सुंदर पांड्य प्रथम के हाथ हार खानी पडी और चोलों के बदले पांड्यों का आधिपत्य स्वीकार करना पडा। यादवराज वीर नरसिंहराय को भी तब से पांड्यों के सामंत के रूप में राज करना पड़ा।

वीर नरसिंहराय के जमाने में तिरुमलै मंदिर की काफी उन्नति की गयी। मंदिर को तब कितने ही ग्राम भू सुवर्ण आदि के दान दिये गये। तिरुमलै

बालार नामक किसी यात्री भक्त ने राजा की अनुमति पाकर मंदिर का नव निर्माण करवाया। जब राजा वीरनरसिंहराय ने अपने तोल भरे सोने का दान देकर तिरुमलै को सुवर्णगिरि मेरु के समान बनवाया और अपने प्रभु सुंदरपांडय के हित मंदिर के शिखर पर एक सुवर्णकलश की स्थापना की। नरसिंहराय के पुत्र तिरुवेंकटनाथ और पौत्र श्रीरंगनाथ के समय में भी तिरुमलै मंदिर के विभव में खूब बढ़ती की गयी।

तिरुवेंकटनाथ और श्रीरंगनाथ का जमाना दक्षिण पर मुसलमान आक्रमणों का जमाना था। अल्लाउद्दीन खिल्जी और मालिक काफर की चढ़ाइयों ने एक के बाद एक गुजर कर दक्षिण के हिन्दू राज्यों को ही नहीं बल्कि कितने ही हिन्दू मंदिरों को भी नष्टभ्रष्ट किया। लेकिन हर्ष की बात है कि इन आततायियों में से किसी का भी रास्ता तिरुमलै-तिरुपति से होकर नहीं गुजरा और मंदिर पर उनका कोई अतंक नहीं हो पाया। यही नहीं, आक्रमणकारी मुसलमानों से डर कर अपने अपने प्रदेशों से निकल भागने वाले कितने ही वैष्णवों तथा वैष्णवमंदिरों की उत्सवमूर्तियों को तब तिरुमलै मंदिर में आश्रय मिला। पहले हमने देखा है कि श्रीरामानुज ने स्थानिक राजा के आतंक से मुक्त करके तिल्लैगोविंदराज की मूर्ति को तिरुपति लाकर वहाँ उनके लिए एक शाश्वत मंदिर का निर्माण करवाया था। उसी तरह अब श्रीरंगम के श्रीरंगनाथ की मूर्ति को भी तिरुमलै पहाड़ पर लाकर वहाँ रंगमंटप नामक एक नवनिर्मित मंटप में उसको आश्रय दिया गया। कांची के वरदराज और अहोबिलम के नरसिंह की मूर्तियाँ भी तब तिरुमलै मंदिर में शरणार्थी रहीं हों, हम ठीक ठीक कह नहीं सकते. लेकिन उन दोनों के लिये भी तब तिरुमलै मंदिर के प्राकरण में छोटे छोटे मंदिर बने और वे आज तक यथोचित अर्चा व आराधना पाते आ रहे हैं। इन देवायतनों व मूर्तियों के यहां आकर बसने का परिणाम यह हुआ कि तिरुमलै मंदिर के नित्योत्सवों व विशेष उत्सवों में एक महान उन्नति होने लगी। दक्षिण से आये हुए वैष्णवों ने दक्षिण के प्रसिद्ध मंदिरों में जो जो उत्सव क्रम जारी थे उन सब को यहाँ भी जारी कराया। फलतः कितने ही नये मंदिर, मंटप व नंदनवन निर्मित हुए, द्राविड प्रबंध का पारायण क्रम व उत्सव शुरू हुआ, आखेट, नौका विहार, वसंत, कल्याण जैसे कितने ही विशेष उत्सवों का क्रम जारी हुआ और तिरुपति में भी गोविंदराज स्वामी के मंदिर के प्राकरण में कितने ही आल्वार-मंदिरों की स्थापना हो पायी और आंडाल-उत्सव का आरंभ हो चला। तिरुमलै और तिरुपति के इन मंदिरों के बीच एक घनिष्ट संबंध भी स्थापित किया गया। तिरुमलै श्रीवेंकटेश्वर के मंदिर में मलैकुनियनिन्रपेरुमाल (मलैयप्पस्वामी) की उत्सवमूर्ति को उभय नाच्चियारों (श्रीदेवी और भूदेवी) के साथ स्वीकृत किया गया और उत्सवों की इतिवृद्धि की गयी।

खिल्जी वंश के बाद दिल्ली सिंहासन पर तुगलक वंश का अधिकार हुआ। मुहम्मद तुगलक ने दक्षिण पर चढ़ाई की और कितने ही हिन्दू राज्यों व हिन्दू मंदिरों को तहस नहस किया, किंतु तब भी तिरुमलै-तिरुपति इस आतंक से बच पाया। उधर काकतीय साम्राज्य का पतन हो गया। देश कुछ दिन तक मुस्लिम आतंक से पीड़ित होता रहा, किंतु शीघ्र ही इस आतंक से मुक्त होने के यत्न शुरू हुए। सन १३३६ में हंपी विजयनगर साम्राज्य की स्थापना हुई और तोंडमंडल उस साम्राज्य के अंतर्गत हो गया। हरिहर प्रथम के जमाने में फिर चारों ओर शांति छा जाने के कारण से, तब तक तिरुमलै मंदिर में शरणार्थी के रूप में रखी हुई श्री रंगनाथ की मूर्ति को पहले जिंजी और बाद में उसके असली स्थान श्रीरंगम पहुंचाया गया।

विजयनगर काल

देवराय द्वितीय ने तिरुमलै की यात्रा की और मंदिर में वेद-मंत्र-पारायण के विच्छिन्न क्रम को फिर से जारी कराया। संगमवंश के अंतिम दिनों में सालुव नरसिंहराय का प्राबल्य दिनों दिन बढ़ता गया और अंत में वही विजयनगर सिंहासन का अधिकारी बना। इस नरसिंहराय के समय में तिरुमलै-तिरुपति के मन्दिरों ने खूब उन्नति की। नरसिंहराय ने तिरुमलै मंदिर में अन्न-ऊंजल-उत्सव का क्रम जारी करके उसके लिए एक विशेष मंडप का भी निर्माण करवाया और तिरुमलै पहाड़ के रास्ते में लक्ष्मी नरसिंह की मूर्ति की स्थापना भी की। यही नहीं, इस राजा की उदारता ने तिरुमलै और तिरुपति में कितने ही गोपुर, प्राकार, मंटप, धर्मशाला आदि के निर्माण में सहायता पहुंचायी। कितने ही नये उत्सव शुरू हो पाये। यात्रियों की सुविधा का भी काफी ख्याल रखा गया। मंदिरों में नित्योत्सव और धर्मशालाओं में निरतान्नदान का क्रम जारी हुआ। तिरुमलै मंदिर का विस्तार भी किया गया।

सालुव वंशके बाद तुलवंश के राजा विजयनगर के शासक हुए। इस वंश में श्रीकृष्णदेवराय काफी मशहूर राजा हुए। कृष्णराय के जमाने में तिरुमलै मंदिर ने अपना स्वर्णयुग देखा। राजा प्रसिद्ध वैष्णव भक्त थे और वेंकटेश्वर स्वामी की कृपा में उनका अटल विश्वास था। इन्होंने सात बार तिरुमलै की यात्रा की और हर बार मंदिर व स्वामी को धन कनक वस्तु वाहनों से विभूषित कर गये। कहते हैं कि कृष्णदेवराय की विजय यात्राओं में तिरुमलै मंदिर की उत्सवमूर्ति को सेना के आगे चलना पड़ता था। जो हो, वे श्री[illegible] के अविचल भक्त थे और अपने इष्टदेव की मूर्ति को किरीट-कटकांगद-तार-हार कटिबंध-विरत्न स्रक् आदि आभूषणों से सुशोभित किया। राजा की पत्नियाँ

चिन्नादेवी और तिरुमलदेवी भी स्वामी के विभव को बढ़ाने में अपने पति से कम उदार नहीं थीं। राजा कृष्णदेवराय तथा इन दोनों रानियों की कांस्य-मूर्तियां आज भी तिरुमलै मंदिर में दर्शनीय हैं।

कृष्णदेवराय के बाद अच्युतराय विजयनगर साम्राज्य का अधिपति बने। वह पहले चंद्रगिरि में रहते थे और कृष्णराय की मौत होते ही तिरुमलै की यात्रा करके वहां अपने अभिषेक का कार्य संपन्न कर लिया। यह भी श्रीवेंकटेश्वर के विभव में चार चांद लगाने में भरसक प्रयत्न करते, कराते रहे। इनके समय में तिरुमलै मंदिर में लक्ष्मी देवी (अलर्मेलमंगा) के उत्सव का क्रम शुरू किया गया, यद्यपि मंदिर में उसके कोई अलग मंदिर व मूर्ति की स्थापना कभी नहीं हुई। इस राजा के जमाने में तिरुपति की भी काफी उन्नति हो पायी। राजा के नाम पर एक नया गांव भी बसाया गया। अच्युतराय के बाद सदाशिवराय सिंहासन पर बैठा। इस राजा ने भी तिरुमलै में अपना अभिषेक रचाया। इसके जमाने में, राजा की ओर से न होकर भी, उसके प्रोत्साह से औरों की ओर से तिरुमलै व तिरुपति के मंदिरों को कितने ही दान मिले। उनका विभव भी खूब बढ़ाया गया। कृष्णदेवराय के बाद फिर सदाशिवराय के जमाने में ही तिरुमलै मंदिर को सब से अधिक दान मिले। सदाशिवराय के बाद अलिय-रामराज ने राज्याधिकार को हस्तगत कर लिया। सन १५६५ में रामराज तल्लिकोट युद्ध में मुसलमानों के साथ लड़ते मर गया और तब से लेकर विजयनगर साम्राज्य के ही नहीं सारे दक्षिण के बुरे दिन शुरू हुए। रक्कसि तंगडि या तल्लिकोट युद्ध के बाद चंद ही दिनों में तिरुपति के पास के चंद्रगिरि दुर्ग में वेंकटपतिराय का शासन शुरू हुआ। इनके पिता तिरुमलराय के नाम पर तिरुमलै मंदिर में आज तक एक विशेष डोलोत्सव, तदर्थ निर्मित तिरुमलरायमंटप नाम के एक विशेष मंटप में चलाया जाता आ रहा है। तिरुमलराय के बेटे श्रीरंगराय का जमाना और भी अशांति का जमाना था। मुसलमानों के आक्रमण के साथ साथ अधीन सामंतों के स्वार्थ के भी दुष्परिणाम अब देखने में आये। वेंकटपतिराय को भी इन सभी कष्टों का सामना करना पड़ा। उसी राजा ने श्रीवेंकटेश्वर के मंदिर में अपने व अपने मां-बापों की कांस्य मूर्तियों को भक्त-मुद्रा में रखवाया। इनके बाद श्रीरंगराय द्वितीय के जमाने में विजयनगर राजवंश का अंत हो गया, और दक्षिण में तंजाऊर, मधुरा, मैसूर आदि प्रदेशों में उनके सामंतों के स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये। तोंडमंडल पर मुसलमानों का अधिकार कायम हो चुका और तिरुमलै-तिरुपति का प्रदेश गोल्कोंड के नवाब के अधीन हो गया।

मंदिर की स्थिति

आश्चर्य की बात है कि ऐसी अशांति के समय में भी तिरुमलै मंदिर के उत्सवों व विभवोन्नति में कोई विशेष अंतर नहीं हो पाया। मंदिर में अब भी नये नये मंटप बनते रहे, नये नये उत्सव शुरू होते चले और नये नये वस्तु वाहन आभरण आदि के दान मिलते रहे।

बात यह है कि मंदिर के आंतरिक मामलों में राजा लोगों ने कभी कोई अधिकार नहीं दिखाया। मंदिर का सारा कार्यभार स्थानत्तार नामक १२ सज्जनों की एक मंडली एवं एक अर्थलेखक के हाथ चलता था। अर्चकों से यदि कभी कोई विवाद हुआ अथवा किसी धर्म को निभाने में उनसे कोई त्रुटि हुई तो राजा स्थानिकों की प्रार्थना या फिरयाद पर न्याय निर्णय करने का भार उठाता था। यह पद्धति बहुतों को अच्छी लगी। लेकिन जबसे मंदिर को अधिकाधिक ग्राम जमीन व सोना दान में मिलने लगा तबसे स्थानत्तार के अधिकार से स्पर्धा करने वाले लोग भी संख्या में बढ़ने लगे। इनमें से कुछ लोगों की राजा के यहाँ भी खूब चलती थी। अतः उनको अपनी स्वार्थ - पूर्ति का अच्छा अवकाश भी मिलने लगा। फल यह हुआ कि मंदिर के कार्यकर्ताओं की संख्या और उनके अधिकार भी बदलने लगे। मंदिर की जायदाद की देख - रेख करने, स्थिर व चर संपत्ति को ठीक रखने और कुछ विशिष्ट व्यक्तियों व राजा या राजपरिवार के दान-धर्मों के निर्वहण करने के अलग अलग अधिकारी बने। स्थानत्तार का अधिकार ही नहीं घटा, उस मंडली के सदस्यों की संख्या भी घट गयी। सन १६०० तक स्थानत्तार सदस्यों की संख्या १२ से ६ हो गयी। सन १६६८ के बाद स्थानत्तार का अधिकार ही नहीं रहा। उसके साथ तमिल व्यवहार का भी लोप हो गया। बदले में स्थानालवार नाम से चार सदस्यों की एक मंडली बनी, जिसको मंदिर के नाम पर दान - धर्म स्वीकार करने के अधिकार से वंचित रखा गया। ऐसी परिस्थिति में आचार्य पुरुषों का प्रभाव स्वभावतः अधिक होता चला। ये लोग धर्म प्रचारकों के रूप में दूर-दूर तक जाते थे और वेंकटेश्वर के नाम पर तिरुपति व तिरुमलै में बने नये मंदिरों, मंटपों, [illegible]ओं और नंदनवनों की वृद्धि में भरसक मदद पहुँचाते थे। साथ साथ दाक्षिणात्य वैष्णव संप्रदायों की बढ़ती केलिए भी वे लोग सभी तरह के उपाय करते थे। श्रीवेंकटेश्वर की तिरुमंजन सेवा में भाग लेने का अधिकार पाकर तब कितने ही चात्ताद वैष्णव अन्य वैष्णवों के समान रामानुजकूट में प्रसाद बाँट लेते थे। दिनों दिन प्रसादों के हित धन कनक धन क्षेत्र ग्रामों के दान बढ़ते चले। वैष्णवों की देखा - देखी में अन्यान्य वैदिक धर्मावलंबी लोगों के भी मठ व समाज तिरुमलै व तिरुपति में स्थापित होते चले। इन सभी के प्रोत्साह से जो कोई धनी मानी यात्री

यहाँ आता था, वह कोई न कोई दान देता था, किसी न किसी शाश्वत धर्म कार्य में उत्साह दिखाता था। धर्म में एक स्पर्धा सी चली तो एक से एक बढ़कर पुण्य कमाने और यश बढ़ा लेने में उत्साह दिखाने लगा। अन्न को ब्रह्म माना गया, अतः अन्नदान खूब बढ़ गया। फलतः यात्री लोगों को वास और ग्रास की अधिक सुविधाएं मिलने लगीं और उनकी संख्या बढ़ती चली तो उनके किये दान-धर्म भी बढ़ते चले।

अशांति का समय

सन १६४६ में कर्नाटक प्रदेश पर कुतुब शाही राज्य का विस्तार हो गया। मीर जुम्ला नामक उसके एक सरदार ने सारे तोंडमंडल पर अपना कब्जा जमाया। बाद में शाहजहाँ ने उसे गोल्कोंड का जागीरदार बनाया। तिरुपति इस तरह पहली बार मुसलमानों के शासन में चला और गोल्कोंड राज्य के अंतर्गत हो गया। मीर जुमला के बाद चितपल्लि मीर्जा के जमाने में सन १६७६ में शिवाजी ने तिरुपति से गुजरकर आरणि, वेल्लूर और गिंजीको जीत लिया। लेकिन तिरुपति पर उनका हाथ नहीं लगा। सन १६८१ में गोल्कोंड के महामंत्री अक्कन्ना ने तिरुपति की यात्रा की। उसी समय उधर औरंगजेब ने दक्षिण की विजययात्रा की और कुतुबशाही वंश का अंत करके सारे कर्नाटक और तिरुमलै-तिरुपति प्रांत को मुगलराज्य में मिला लिया।

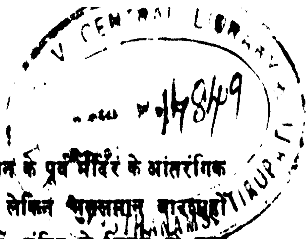
लेकिन औरंगजेब का शासन सुस्थिर नहीं रह सका। दक्षिण के मुसलमानों और महाराष्ट्रों ने इस प्रदेश को फिर से पाने की भरसक चेष्टाएं कीं। बादशाह शाहआलम् ने कर्नाटक प्रांत का अलग सूबा बना कर सादतुल्लाखाँ को इसका नवाब बनाया। इसके सलाहकार तोडरमल ने तिरुपति की यात्रा की और तिरुमलै मंदिर में अपनी और अपनी पत्नी तथा माता की मूर्तियां रखवाईं।

सन १७२४ में नैजाम ने अपने को स्वतंत्र घोषित किया तो उसको मरहठों का सख्त विरोध हुआ, और उसके फलस्वरूप तिरुमलै-तिरुपति प्रांत पर तब कितनी ही चढ़ाइयां हुईं। मरहठों की सेना लिये चल कर रघोजी ने दामलचेरुवु के युद्ध में नवाब दोस्त अली को मार डाला और देश को बुरी तरह लूट लिया। पेशवा बाजीराव की पत्नी और माता इसी समय तिरुमलै तिरुपति की यात्रा करने आयीं और स्वामी को कितने ही [illegible] से विभूषित किया। बाद में सफदरअली नवाब बनकर तिरुमलै के सुवर्णभंडार में से पचास हजार रुपये देकर मरहठों को देश से बाहर करने में सफल हुआ। नैजाम की मौत के बाद फिर से लड़ाइयां शुरू हुईं। इतिहास-प्रसिद्ध इन कर्नाटक युद्धों में तिरुमलै-तिरुपति का [illegible]वर्णभंडार

खूब काम आया। नवाब अन्वरुद्दीन के पुत्र महम्मदाली ने तिरुमलै मंदिर के भंडार से दो लाख रुपये लेकर अपने मददगार अंग्रेजों को देकर उनसे आर्काट को पकड़वाया। सन १७५० मे उसने तिरुमलै-तिरुपति के मंदिरों की सारी आय को अंग्रेजों के अधीन किया।

कर्नाटक युद्धों के समय यह मंदिर कभी एक साल तक फ्रांसीसियों के हाथ भी रहा, किंतु अंग्रेजों ने जल्दी में इसे वापस ले लिया। फिर भी प्रांत में तब शांति नहीं थी। आये दिन एक न एक चढाई होती थी, एक न एक आतंक फैलता था और एक के बाद एक करके इन सबका सामना करना पडता था। इस तरह बीस साल तक यहाँ अशांति ही अशांति का राज चला। महम्मद कमाल ने तभी अंग्रेजों को तंग करके देश को लूट लिया। स्थानिक जागीरदार लोगों ने भी स्वार्थवश ऐसे उपद्रवों को दूर करने के बदले उनको और भी बढ़ाकर उनसे लाभ उठाना चाहा। नजीबुल्ला और अब्दुल वहीब नामक दो भाइयों ने तब तिरुपति को हस्तगत करने का खूब प्रयत्न किया, लेकिन अंग्रेजों के हाथ उनको हार खानी पड़ी। इसी तरह गोपालराव और नारायणराव नामके दो मरहठे सरदारों ने भी तब तिरुपति पर हमला किया, किंतु उनको भी अंग्रेजों ने भाग दिया। बाद में मैसूर का सुल्तान हैदरआली इस प्रांत पर चढाइयाँ करने लगा। नैजाम और अंग्रेजों की सम्मिलित सेना ने हैदर और टिप्पु का सामना किया और इन्हीं इतिहास प्रसिद्ध मैसूर युद्धों के समय सारे कर्नाटक पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। सन १८०९ में प्रांत में फिर से शांति छायी तो अंग्रेजों ने मंदिर को एक जागीर-सा बनाकर, सालाना लगान देने की शर्त पर कुछ आसामियों को मंदिर में अपने प्रतिनिधि के रूप रखे। लेकिन यह प्रबंध ठीक नहीं चला तो सन १८४३ में उन्होंने बावा सेवादास महंत को मंदिर का पूरा अधिकार सौंप दिया और आप मंदिर के निर्वहण से दूर रह गये।

तिरुमलै-तिरुपति के सभी बड़े मंदिरों पर विचारणकर्ता का अधिकार पाकर महंतों ने मंदिर के इतिहास में एक नया पृष्ठ खोल दिया। बंबई, कलकत्ता जैसे उत्तर हिन्दुस्थान के बड़े शहरों में उनके मठ की शाखाएँ खुलीं और उनके जरिए बालाजी-श्रीवेंकटेश्वर का सारे उत्तर भारत में खूब प्रचार हो पाया। स्थानिक मंदिरों के परस्पर संबंध व इतिहास को भी नये रंग में रंगाया गया। कपिलतीर्थ और तिरुचानूर के मंदिरों की उन्नति में उनकी विशेष रुचि हुई। मंदिर की व्यवस्था में भी कितने ही नये संस्कार किये गये। लेकिन जब यात्री लोगों की सुविधाओं का ख्याल कम होता हुआ और मंदिर की संपदा का अपव्यय भी बढता हुआ नजर आया तो सन १९३३ में मद्रास सरकार ने महंत को हटाकर मंदिर के कार्यनिर्वहण का भार एक ट्रस्ट बोर्ड को सौंप दिया।



जैसे पहले हमने कहा है, मुसलमानों के आगमन के पूर्व मंदिर के आंतरंगिक मामलों में राजा लोगों ने कभी दखल नहीं दिया। लेकिन मुसलमान बादशाहों ने इस मर्यादा को भंग कर दिया। उनके जमाने में मंदिर के कितने ही काम सरकार के हाथ हो गये और मंदिर की जमीनें भी अन्याक्रांत हो चुकीं। आर्येदिन की चढ़ाइयों के कारण यात्री लोगों की संख्या भी कम हो गयी। फलत: मंदिर के कार्यकर्ता एवं कर्मचारी लोगों को बहुत दिक्कत उठानी पडी। मुगलों के जमाने में यह स्थिति और भी शोचनीय हो गयी। दिल्ली बादशाह, कर्नाटक नवाब, स्थानिक जागीरदार, मरहठे सरदार आदि सभी लोग एक न एक तरह से कर, चौथ, सरदेशमुखी, भेंट जैसे कितने ही रूपों में धन वसूल करते थे। न प्रजा सुखी थी न माल-मता की खैरियत। मंदिर की आमदनी पर भी इन आततायी लोगों की दृष्टि रहती थी। मंदिर में संचित संपत्ति को किसी न किसी तरह हस्तगत कर लेने के प्रयत्न भी कम नहीं हुए। ऐसी हालत में अंग्रेजों और फ्रांसीसी लोगों का आगमन हुआ तो गिरती दीवार को और एक धक्का सा लगा। लेकिन अंग्रेजों को जब से इस प्रदेश में कर वसूल कर लेने का अधिकार मिला तब से उनकी नीति के अनुसार मंदिर की संचित संपत्ति की रक्षा तो होती आ पायी, लेकिन सालाना आय तो किसी न किसी रूप में या तो कंपनी के हाथ में, नहीं तो औरों के हाथ में पड जाती थी। मंदिर के धन भंडार का उपयोग करके नवाबों ने अपना युद्धतंत्र अथवा राजतंत्र कैसे चलाया यह भी पहले बताया जा चुका है। नवाब को हटाकर जब सन १८०१ में अंग्रेजों ने प्रांत का पूरा शासन भार अपने हाथ में लिया तब उन्होंने मंदिर की व्यवस्था को ठीक ठिकाने पर लाने का प्रयत्न किया। मंदिर की सेवाओं और उनके खर्च तथा तत्संबंधी कर्मचारियों व कार्यकर्ताओं की जानकारी लेकर, सेवा बही जैसी किताब लिखवाकर, निर्वहण केलिए सरकार की ओर से मंदिरों को मिलनेवाले पैसे को निश्चित किया। किंतु मंदिर के बचे कुचे इलाके भी तब कंपनी के हाथ हो गये। साल में होनेवाले तीन मुख्य उत्सवों के समय, अर्थात् ब्रह्मोत्सव, मुक्कोटि और उगादि के समय नियत रूप से मंदिर की सारी आमदनी कंपनी को मिल जाती थी, जो ढाई लाख रुपये तक की होती थी। फिर भी हिन्दू मंदिरों के निर्वहण में उन लोगों की विशेष रुचि नहीं थी। अत: १८४३ में हाथीरामजी मठ के महंत सेवादास जी को मंदिर का विचारणकर्ता बनाकर उन्होंने इस काम से छुट्टी ली। महंत को तब श्री वेंकटेश्वर मंदिर के साथ साथ १[illegible] बड़े मंदिर और १३ छोटे मंदिर भी सौंप दिये गये। तसदीक के रूप में सरकार से मिलनेवाली रकम बाद में शायद बंद हो गयी हो, महंतों ने यात्री लोगों से विशेष सेवाओं केलिए, विशिष्ट रकमें वसूल करना शुरू किया।

12

मंदिर - निर्माण तथा विस्तार

अब तक हमने तिरुमलै मंदिर के शुरू से लेकर आज तक के इतिहास पर एक सरसरी निगाह दौडायी है । इस में हमने मंदिर तथा प्रांत के राजनैतिक एवं धार्मिक इतिहास के सूत्रों को संभालते आकर यह देखा है कि उन पर मंदिर का तथा उनका मंदिर पर भिन्न भिन्न समयों में किस तरह का प्रभाव पडता रहा। तिरुमलै मंदिर का निर्माण कब हुआ, यह कहना मुश्किल है । आज यह जो रूप में दीखता है वह विभिन्न समयों में विस्तृत किया गया और समय समय पर पुनर्निर्मित भी होता आया मालूम पडता है । मंदिर के प्रारंभिक अस्तित्व के बारे में पौराणिकाधार तो बहुत मिलते हैं लेकिन वे उतने विश्वसनीय नहीं हैं । उनके अनुसार यह मंदिर कृतयुग से ही विद्यमान है । जो हो, स्वामी का नाम पहाड के नाम पर ही तिरुवेंगडमुडयन अथवा श्रीवेंकटेश्वर जो पड़ा है उससे यही निकलता है कि यह कभी यहां के मूल निवासी पहाडी या जंगली लोगों का इष्ट देव है, जिसका शायद ही कोई मंदिर रहा हो । पौराणिक कथाओं के अनुसार यह बताया जाता है कि स्वामी की स्वयम् व्यक्त मूर्ति पहले पहल स्थानिक राजा तोंडमान को एक सरोवर के किनारे एक पेड के नीचे के वल्मीक में दिखाई दी। यह भी कहा जाता है कि उसी राजाने स्वामी केलिए एक मंदिर बनवाया था । करिकालचोल के पुत्रों में जो आदोंडन नाम का राजा हुआ उसी को यदि उपरोक्त राजा तोंडमान मान लिया जाय तो यह सिद्ध होगा कि यह मंदिर ईस्वी पहली सदी में बना है । लेकिन मंदिर का शिल्प देख कर कोई इसे छठी या सातवीं सदी की पल्लव शैली का मंदिर मानता है । शायद तोंडमान से निर्मित उस पुराने मंदिर का पल्लवों के जमाने में नव निर्माण हुआ हो। शिलप्पाधिकार और नालायर प्रबंध के आधार पर भी यही बताया जा सकता है कि छठी या सातवीं सदी तक मंदिर का पूरा पूरा निर्माण नहीं हो पाया था । तब शायद स्वामी की मूर्ति किसी एक मंटप जैसे निर्माण में स्थित हो । लेकिन कुलशेखर आलवार के वचनों से इतना जाना जा सकता है कि उनके जमाने तक एक छोटा - सा मंदिर और मुखमंटप बने थे । नवीं सदी के बाण वंशी राजाओं के शिलालेख से भी इस बात की पुष्टि मिलती है कि तब तक मंदिर का प्राथमिक रूप स्थिर हो चुका था ।

मंदिर का गर्भालय तथा मुखमंटपवाला यह निर्माण दसवीं सदी में भोग श्रीनिवास की स्थापना के समय, और भी विस्तृत किया गया । तब मुखमंटप या अंतराल को आगे बढ़ाकर एक और मंटप बनाया गया, जिसके आगे स्नपन मंटप का निर्माण किया गया । इसी में भोग श्रीनिवास का पहला तिरुमंजन उत्सव जारी हुआ हो । इस तरह आजकल जिसे सुवर्णद्वार या 'बंगारु वाकिलि' कहते हैं उससे लेकर क्रमशः गर्भालय तक स्नपन मंटप, अंतराल और शयन मंटप बने हैं।

बाद में इन मंटपों को घेर कर अंदर ही कमरे जैसे निर्माण किये गये हैं। तेरहवी सदी में यादव वीरनरसिंहराय के ज़माने में जब मंदिर का पुनर्निर्माण किया गया तब ये सब निर्मित हुये हों। तभी मंदिर का एक प्रदक्षिणा पथ, जिसे आज मुक्कोटि प्रदक्षिण कहते है बंद किया गया और ऊपर के विमान को सुवर्ण रंजित भी बनाया गया। अब स्नपन मंटप में दोनों ओर दो कमरे हैं। ये कमरे आजकल श्रीभंडार के काम आते हैं। बाद वाले मंटप में कितनी ही पुरानी मूर्तियाँ रखी गयी हैं। इसके भी दोनों बाजू कमरे बने हैं। इसी को रामारमेडा कहते हैं। मुक्कोटि प्रदक्षिण का पथ इसी के दोनों पार्श्वों तक घेरे बना है। इसके बाद शयन मंटप आता है जो पहले अंतराल की तरह काम देता था। इसके बाद गर्भगृह आता है जिसमें वेंकटेश्वर की ध्रुव मूर्ति और बाकी उत्सव मूर्तियाँ दिखाई देती हैं।

मुक्कोटि पथ साल में मुक्कोटि एकादसी व द्वादसी के दो ही दिन खुला रहता है। बाकी दिनों में उसे बंद ही रखते हैं। यह प्रदक्षिणा पथ दक्षिण की ओर की अपेक्षा उत्तर की ओर अधिक विशाल है। उत्तर की दीवार भी पूर्व की ओर ज्यादा बढ़ी है। वहीं मंदिर से सटा कर पथ के अंदर ही अंदर सेनानि मुदलियार का छोटा सा मंदिर बना है। मूल मंदिर की दीवारों पर कोई विशेष शिल्प या विशिष्ट देवी देवताओं के विग्रह नहीं दीखते। मुक्कोटि प्रदक्षिण के प्राकार कुड्य पर भी कोई शिल्प या चित्र नहीं दीखता। गर्भालय तथा मुक्कोटि प्रदक्षिण और अन्य मंटपों को देखते यह मानना पड़ता है कि गर्भालय तथा मुखमंटप वाले पुराने मंदिर को यथा तथा रखकर उसकी दीवारों से सटा कर ही स्नपन मंटप तक की दीवारें बनी थीं और उसी का यह प्रदक्षिणा पथ बना था। इस तरह मंदिर के पुनर्निर्माण में मूल मंदिर का एक नया मंदिर बनाया गया।

पहले इस मंदिर के सामने ही ध्वजस्तंभ आदि की स्थिति भी रही हुयी हो लेकिन बाद में तिरुमामणि मंटप आदि के निर्माण काल में उनको वहाँ से हटा कर संपंगि प्रदक्षिण में स्थापित किया गया हो। यह तिरुमामणि मंटप सन् १४१७ में बना है। इसी को आस्थान मंटप कहते हैं। इस के पूरबी छोर में गरुडाल्वार का मंदिर है। पश्चमी छोर पर सुवर्णद्वार और उसके दोनों ओर द्वारपाल मूर्तियाँ हैं। इसी में दक्षिण की ओर घंटा ओर उत्तर की ओर हुंडी दिखाई देती हैं। पारुपत्तेदार का दफ़्तर भी यहीं चलता है। हुंडी में प्राप्त धन की प्रतिनित्य यहीं गिनती होती है। कोलुवु श्रीनिवास मूर्ति का आस्थान रोज यहीं होता है। सुप्रभातम्, पंचांग श्रवणम्, मात्रादानम् आदि नित्योत्सव, दीपावली, आणि, उगादि जैसे विशेषोत्सव, अध्ययनोत्सव, श्री जयंती, अभिषेक, उत्थान द्वादसी आराधना, सहस्रकलशाभिषेक, आदि सभी उत्सव यहीं होते हैं। काशिका पुराण यहीं पढ़ते

हैं। इस तरह के नित्योत्सव का यह मंटप चंद्रगिरि के माधवदासार नामक एक भक्त से सन् १४१७ में बनवाया गया है। उसने आनंद विमान की भी मरम्मत करायी थी।

मंदिर के छत और शिखर भाग को आनंद विमान या आनंद निलय कहते हैं। इसका पहला रूप क्या था अब कहना मुश्किल है। प्रस्तुत रूप में इसका निर्माण यादव वीरनरसिंहराय के जमाने में हुआ। पांड्याराजाओं के आधिपत्य से अपने को स्वतंत्र कर के तब उस राजाने अपने तोल भरे सोने से मंदिर का नवनिर्माण कराया। तभी उसने मंदिर को सुवर्णगिरि मेरु जैसा बनवाया। पहले इसके शिखर पर राजा सुंदरपांडय के नाम पर सुवर्ण कलश स्थापित था और बाद में संपूर्ण विमान को सुवर्ण रंजित बनाया गया। सालुव वंश के राजा मंगिदेव ने भी विमान तथा कलश को सुवर्ण लेप से शोभित करवाया। बाद में माधव दासार, मट्लकुमार अनंतराज जैसे भक्तों ने इसकी मरम्मत आदि कराके इसकी शोभा की इतिवृद्धि की थी। अभी हाल में तिरुमल - तिरुपति देवस्थान की कमेटी ने आनंद निलय विमान, गरुड मंदिर, बंगारु वाकिलि, ध्वजस्तंभ आदि सबको सुवर्ण लेप से सशोभित कराया।

विमान के ऊपर चारों कोनों में सिंहों की जो मूर्तियां हैं वे इस मंदिर के प्राचीन यक्ष संस्कृति से संबन्ध की ओर इशारा करते हैं। पहले यह कहा जा चुका है कि मूल में यह स्वामी यहाँ के मूलनिवासी पहाडी या जंगली लोगों का इष्ट देव रहा हो। विमान पर अन्यान्य देवी देवताओं की मूर्तियों के साथ उत्तर की तरफ़ वेंकटेश्वर की ध्रुवमूर्ति की जो प्रतिकृति है उसे 'विमान वेंकटेश्वर' कहते हैं। यह मूर्ति यात्री लोगों को विशेष आकर्षक दीखती है।

पांच मूर्तियां

तिरुमल मन्दिर के गर्भालय में वेंकटेश्वर की ध्रुव मूर्ति के अलावा उनकी और चार उत्सव मूर्तियां और श्रीकृष्ण की मूर्ति तथा परिवार सहित रामचन्द्र मूर्ति भी हैं। ध्रुव मूर्ति तो स्वयंव्यक्त मूर्ति है। अतः यह प्रश्न नहीं उठता कि उसकी स्थापना कब और किससे हुई। आलय के परिमाण के अनुसार यह मूर्ति एक उन्नत पीठ पर गर्भालय के ठीक बीच में विराजमान है। पौराणिक कथाओं तथा लोक प्रवादों के अनुसार मूर्ति के हाथों में जो शंख और चक्र दीखते हैं वे मूल मूर्ति के अविभाज्य अंग न रह कर ऊपर से लगाये हुए आभरण जैसे हैं। मूर्ति के वक्ष पर श्रीवत्स और श्रीमहालक्ष्मी के चिह्न अंकित हैं। मूर्ति के कंठ में अन्यान्य आभूषणों के साथ अलमेलुमंगा का सुवर्ण पट्ट

भी शोभित है । हफ्ते में एक बार, हर शुक्रवार के दिवस इस मूलमूर्ति का अभिषेक उत्सव होता है ।

नित्याभिषेक, निवेदन, एकांतसेवा, जैसे उत्सवों में ध्रुव मूर्ति के बदले समवाई की दी हुई भोग श्रीनिवास की मूर्ति का उपयोग होता है । यह सन् ९७० में स्थापित हुई । तभी से इस मंदिर में आगमोक्त विधान की अर्चा–आराधना आदि का क्रम जारी हुआ सा मालूम पड़ता है । इस मूर्ति के पैरों के नीचे पीठ पर षट्कोण चक्र का चिह्न अंकित है । यह चान्दी की मूर्ति सभी विषयों में मूल मूर्ति की अच्छी प्रतिकृति मानी जाती है । मूल मूर्ति से यह मूर्ति सोने की जंजीर से सम्बद्ध रखी जाती है ।

वेंकटेश्वर की प्राचीन उत्सव मूर्ति जो उग्रश्रीनिवास कहलाती है, आज कल साल में सिर्फ तीन ही दिवस उपयोग में लाई जाती है । उत्थान द्वादसी, मुक्कोटि एकादसी तथा द्वादसी के दिवस इसे गर्भालय से बाहर लाते हैं । इस मूर्ति की विशेषता यह है कि इसके हाथ में जो चक्र है, वह प्रयोग मुद्रा में है ।

सन् १३१० – ३० के बीच उपरोक्त उत्सव मूर्ति के बदले उभय नाच्चियार सहित मलयप्प स्वामी नामक आज की उत्सव मूर्ति की स्थापना हुई है । ब्रह्मोत्सव, वसंतोत्सव, कल्याणोत्सव, तेप्पोत्सव, तिरुवीधी जैसे सभी उत्सवों में इसी मूर्ति का उपयोग होता है । यह शायद पहले तिरुचानूर के तिरुविलन कोयिल में रही हो ।

रोज के आस्थान में काम आनेवाली उत्सवमूर्ति को कोलुवुश्रीनिवास कहते हैं । यह भी पहले तिरुचानूर में रही होगी । पंचांग श्रवण, पुराण श्रवण, मात्रादान आदि सभी उत्सव इसी मूर्ति के समक्ष मनाये जाते हैं ।

मंदिर में श्रीकृष्ण और राम की मूर्तियाँ जो हैं वे शायद दसवीं सदी में यहाँ रखी गयी हों । पहले वे रामारमेडा कहलाने वाली जगह रखी रहती हों । श्रीकृष्ण जयंती, श्रीरामनवमी जैसे उत्सवों में इनका उपयोग होता है, लेकिन मंदिर में इनकी प्रत्येक अर्चाना का विधान नहीं है । वेंकटेश्वर की अर्चाना में ही उनको भाग मिलता है ।

मंदिर के आनंद निलय के चारों ओर जो प्रकार, आवरण और प्रदक्षिणापथ है उसी को विमान प्रदक्षिण कहते हैं । दर असल यह मंदिर का दूसरा अथवा अभ्यंतर प्रकार है । आश्चर्य की बात यह है कि ध्वजस्तंभ और बलिपीठ का मंडप इस प्रकार में न होकर इसके बाहर पहले अथवा बाहरी प्रकार में दीखता है । मंदिर के पुनर्निर्माण अथवा तिरुमामणि मंटप के निर्माण के समय स्थल

संकोच के कारण से ध्वजस्तंभ आदि को इस प्राकार से बाहर किया गया होगा। जो हो आज का यह दूसरा प्राकार. और उसका गोपुर दोनों ईसवीं १३ वीं सदी से पहले निर्मित मालूम पड़ते हैं।

गोपुर के दोनों पार्श्व दो मंदिरों से शोभित हैं। ये दोनों आनंदनिलय के सामने ही बने हैं। गोपुर के बायीं ओर वरदराजस्वामी का और दायीं ओर योग नृसिंह अथवा अलगिय सिंगराय का मंदिर है। तेरहवीं सदी में मुस्लिम आतंक के कारण जिस तरह स्वामी रंगनाथ को इस पहाड़ पर आश्रय दिया गया उसी तरह तब कांची के वरदराजस्वामी और अहोबिल के नृसिंहस्वामी को भी यहाँ आश्रय दिया गया होगा। अतः इन दोनों मंदिरों के निर्माण का समय भी १३ वीं सदी के आरंभ में रहा होगा। ये दोनों मंदिर समुन्नत वेदियों पर अंतराल, गर्भालय एवं विमान सहित अच्छे बने हैं और इनमें रखी शिलामूर्तियां भी बहुत सुंदर हैं।

वरदराजालय के सामने ही, आनंदनिलय के दाहिनी ओर 'बंगारुबावि' या सोने का कुआं है, जिसके पानी का रसोईघर और मंदिर के सभी कामों में उपयोग किया जाता है। प्राकार मंटप भी यहीं से शुरू होता है। कुएँ के समीप में ही मंटप का कुछ हिस्सा रसोईघर में बदल दिया गया और वहाँ के कुछ भाग में एक छोटे मंदिर जैसे निर्माण में 'पोटु नाच्चियार' की मूर्ति रखी गयी है। यह देवी रसोई की देख-रेख करती है, ऐसा विश्वास है।

दक्षिणी प्राकार के अंत में मंटप का काफी हिस्सा कल्याणमंटप में बदल दिया गया है। कहते हैं कि किसी अवसरम् चेन्नप्पा नामक भक्त ने ई. १५८६ में इसका निर्माण कराया। यह छोटा होकर भी बहुत सुंदर बना है और इसका शिल्प भी भव्य बना है। इस मंटप में छोटा सा मंदिर भी है जो अपने में स्वतःपूर्ण और लक्षणयुक्त है। ब्रह्मोत्सव अध्ययनोत्सव आदि, विशेष समयों में उत्सव मूर्तियां यहाँ रखी जाती हैं। मुख्यमंदिर के पुनर्निर्माण जैसे अवसरों पर इसी को बालालय में बदल दिया जाता है और स्वामी की दारुमूर्ति की प्रतिष्ठा यहीं की जाती है। कल्याणोत्सव तो यहाँ अनुनित्य हुआ करते हैं। इसके पीछे ही यागशाला है जो ब्रह्मोत्सव जैसे विशेष समयों में होमादिक कार्यकलाप के उपयोग में लाया जाता है।

प्राकार मंटप का पश्चिमी भाग कितने ही कमरों में बदल दिया गया है और उनमें अश्व, गज, सिंह, गरुड, हनुमान, सूर्यप्रभा, चंद्रप्रभा जैसे सोने व चांदी से निर्मित कितने ही वाहन हिफाजत से रखे जाते हैं और भक्तों

की प्रार्थना पर, आर्जित उत्सवों के मद्दे वाहनोत्सव मनाने के काम में लाये जाते हैं।

प्राकार मंटप का उत्तरी भाग भी कई कमरों में बदल दिया गया। विमान वेंकटेश्वर के दर्शन इसी मंटप से होते हैं। स्वामी के श्रीपादतीर्थ अथवा अभिषेक तीर्थ को यहीं भक्तों में बांट देते है। श्रीरामानुज का एक छोटा मंदिर भी यहीं बना है। यह शायद १२ वीं सदी में ही बना होगा। इस मंदिर के मुखमंटप में वैष्णवों को कुछ विशेष सुविधा के साथ तीर्थ प्रसाद मिलते हैं। अध्ययनोत्सव, प्रबंध पारायण, वेदपारायण, आदि के लिए भी यह मंटप विशेष रूप से उपयुक्त होता आ रहा है। स्वामी के नैवेद्य में से श्रीरामानुज को पहला भाग मिलता है। वरदराजस्वामी और नृसिंहस्वामी की तरह रामानुज की भी अलग अर्चना करने का संप्रदाय यहां नहीं है। इन सभी को श्रीवेंकटेश्वर की अर्चना में ही अपना हिस्सा लेना पड़ता है।

रामानुज मंदिर के पार्श्व में ही प्रामिकों आदि के कमरे हैं। बर्गपडि भी यहीं है, जिसमें स्वामी का प्रसाद देवस्थान की ओर से बेचा जाता है।

प्राकार मंटप के अग्रभाग में ही एक छोटा सा कमरा बना है, जिसे संकीर्तन भंडार कहते हैं। यह १५ वीं सदी में ताल्लपाक पेदतिरुमलाचार्य से बनवाया गया। इसमें ताल्लपाक कवियों के रचे वेंकटेश्वर संकीर्तन ताम्रपट्टों पर लिखवाकर रखे गये हैं। आजकल देवस्थान की ओर से इन संकीर्तनों का प्रकाशन हो रहा है। १५-१६ सदियों में इस मंदिर में श्रीवैष्णव संप्रदाय को जो स्थान व मान मिला उसमें उपरोक्त ताल्लपाक वंशी लोगों का विशेष हाथ था। इन लोगों ने मंदिर को करीब १३ गांव तक दान में दिये। कितने ही विशेष उत्सव मनवाये। स्वामी के कल्याण उत्सव का विशेष संप्रदाय चलाया। तिरुमलै व तिरुपति में कई मंदिर और मंटप बनवाये। संकीर्तन और कल्याण उत्सव के समयों में आज भी इस वंश के लोग स्वामी के कैंकर्य में भाग लेते हैं। इनकी शिष्य परंपरा के जरिए श्रीवेंकटेश्वर का भी प्रचार दूर दूर तक होता आया। प्राकार मंटप में पूर्वी छोर में नृसिंहालय के पासवाले कमरे गंधपडि अरं कहलाते हैं। स्वामी के अभिषेक के लिए सब तरह के सुगंध द्रव्य यहां इकट्ठे किये जाते हैं। भक्त लोग चंदन, कस्तूरी केसर जैसे सुगंध द्रव्यों से भरे कटोरियों को हाथ में लिये, यहीं से निकलकर विमान प्रदक्षिण करके उन सबको स्वामी के गर्भालय में पहुंचाते है। हर शुक्रवार अभिषेक उत्सव होता है और उस समय यह दृश्य बड़ा प्रभावोत्पादक मालूम पड़ता है।

मंदिर का बाहरी प्रकार तथा आवरण को संपंगि प्रदक्षिण कहते है। इस प्राकर के गोपुर को ही सिंहद्वार या पडिकावलि गोपुर कहते है। इस गोपुर-द्वार के दोनों ओर शंख-निधि और चक्र-निधि की काष्ठ्य मूर्तियां रखी मिलती हैं। यह तेरहवीं सदी के पूर्व ही निर्मित हुआ हो। गोपुर द्वार के दोनों ओर जो दो छोटे मंटप हैं, उनमें विजयनगर राजा लोगों की काष्ठ्य व शिला प्रतिमाएँ रखी गयी हैं। उत्तर की ओर श्रीकृष्णदेवराय और उनकी दो रानियों की मूर्तियां हैं। दक्षिण की ओर अच्युतराय और उनकी पत्नी तथा वेंकटपतिराय की मूर्तियां है। प्राकार मंटप के दक्षिणी भाग में ही १३ वीं सदी में श्रीरंगनाथ को आश्रय दिया गया। यहां तदर्थ निर्मित रंगमंटप आज भी दर्शनीय है। इस मंटप का तथा इससे लगकर बने तिरुमलराय मंटप एवं नरसिंहराय मंटप का भी शिल्प अत्यंत सुंदर है। अब भी इन मंटपों में वसंतोत्सव, अन्न ऊंजल जैसे विशेष उत्सव मनाये जाते है। वसंतमंटप के निर्माण एवं शिल्प में कल्याणमंटप से अधिक साम्य है।

प्राकार मंटप के पश्चिमी भाग में कितने ही कमरे बने हैं, जिनमें स्वामी के रथ नौका, वाहन, ग्रास, पात्र जैसी सामग्री को हिफाजत से रखा जाता है। उत्तर की ओर भी ऐसे कमरे कई बने हैं जो इसी तरह भांडार घर का काम देते हैं। उत्तरी छोर पर आइना महल बना है। सामने जो मंटप है वहां प्रसाद का बंटवारा होता है। समीप में ही प्राकार के आवरण में 'पूलबावि' नामक जो कुआं है, उसी में स्वामी का निर्माल्य डाला जाता है। आइना महल का निर्माण कब हुआ, यह बताना मुश्किल हैं, लेकिन हाल ही में इसका नवनिर्माण किया गया हैं। ध्वजस्तंभ के दक्षिण में तोडरमल, उसकी पत्नी और माता की मूर्तियां खडी दीखती हैं।

पडिकाविलि गोपुर और पहले प्राकार का यह विस्तार ही आजकल मंदिर का पूर्णविस्तार है। यह करीब $2\frac{1}{2}$ एकड वर्गफल का क्षेत्र है। इस प्रकार के चारों ओर माडवीथियां बनी हैं। पहले इन वीथियों में कितने ही मंटप थे, लेकिन आजकल कितने ही पुराने मंटपों को आवास गृहों में बदल दिया गया है। पहले प्राकार के चारों कोनों में चार मंटप अब भी दीखते हैं। मंदिर के उत्तर में 'पुष्करिणी' है। इसका जल बडा पवित्र और प्राभावसंपन्न माना जाता है। इसके दक्षिण में अच्युतराय कोनेरु या पातपुष्करिणी कहलानेवाली जगह पर आज कितने ही घर बने हैं। पुष्करिणी के ईशान्य कोने में श्रीभूवराह स्वामी का मंदिर है। यह पहाड वराहक्षेत्र कहलाता है। ताल्लपाक पेदतिरुमलाचार्य ने इस मंदिर के मुखमंटप आदि का निर्माण कराया। उन्होंने स्वामी की पुष्करिणी को भी सोपानपंक्ति से सुशोभित किया। किनारे पर की शासनशिला पर ताल्लपाक अन्नमाचार्य और पेदतिरुमलाचार्य की अर्धचित्र मूर्तियां [illegible]नायक मुद्रा में दर्शनीय हैं।

पुष्करिणी के किनारे पर 'कलतेर' अथवा पत्थर का पुराना रथ है। दारुनिर्मित नया रथ और चांदी का रथ भी यहां दर्शनीय होते हैं। रथ यात्रा में चारों माडवीथियों में बड़ा मेला लगता है।

माडवीथियों में कितने ही धार्मिक संप्रदायवालों के अलग अलग मठ हैं। ऐसों में अहोबिलमठ, व्यासरायमठ, महंतमठ आदि बहुत प्रसिद्ध है। देवस्थान की ही नहीं, बल्कि मैसूर, पिठापुर आदि के राजा रईसों की धर्मशालाएं भी मंदिर के चारों ओर बिखरी मिलती हैं।

पडिकावलि गोपुर के सामने ही बेड़ी हनुमान का मंटप है। इसके पार्श्व में ही मोंडिगोपुर तक की गली है। मोंडिगोपुर का हाल ही में नवनिर्माण किया गया है। इसके बाहर जो कल्याणकट्ट मंटप है, वहां भक्तलोग केशखंडन का संस्कार सुसंपन्न कर लेते हैं।

कपिल तीर्थ अथवा आल्वार तीर्थ

तिरुमलै पहाड के नीचे, पर्वत - पाद से सटकर आजकल जिसे कपिलतीर्थ कहते हैं उस जगह के आसपास पहले कोत्तूर नामक ग्राम रहता था। कपिलतीर्थ वाले मंदिर का निर्माण इसी गांव के ग्रामाधिकारी से कभी नौवीं या दसवीं सदी में किया गया। तत्संबंधी शिलालेख में इतना तो अवश्य बताया गया है कि वहां आवास रहनेवाले मुनि के लिये यह गुफालय बनाया गया है। 'मुनि' से मतलब, किंवदंतियों के अनुसार कपिलमुनि अथवा उनसे प्रतिष्ठित योगिराज भगवान शंकर से लिया जाता है।

उपरोक्त कोत्तूर गांव के दक्षिण में एक कृष्णालय और उसके चारों ओर तिरुमलै - तिरुपति के पुजारी लोगों का एक मुहल्ला रहता था। उसी कृष्णालय को पार्थसारथि आलय कहते हैं। शिल्प आदि के आधार पर इसे आठवीं या नौवीं सदी का मंदिर बताया जा सकता है। सोलहवीं सदी तक इस मंदिर में पूजा कम भी चलता था, लेकिन बाद में किसी कारण से मूर्ति के भिन्न होने से उसका पूजा कम बंद हो गया। लेकिन आज इसका नव निर्माण हुआ और नित्य पूजा कम भी जारी है।

कोत्तूर की ग्रामयक्षणी को गंगम्मा कहते हैं। नेल्लूर व कडपा प्रांत में यादवों से गंगम्मा की आराधना व अर्चना प्राचीन काल से होती आ रही है। यह प्रांत कई दिनों तक यादवों के शासन में था। तिरुमलै-तिरुपति के मंदिरों की इतिवृत्ति में इन प्राचीन स्थानिक यादव राजाओं का कितना ही सहयोग रहता था। गंगम्मा का भी हर साल उत्सव मनाया जाता है।

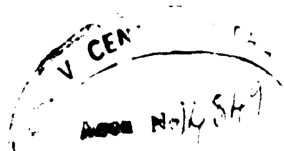
तिरुचानूर में पराशरेश्वर मंदिर की स्थापना हो जाने के बाद शैव वैष्णव विवादों के कारण से दसवीं सदी में वैष्णवों के धर्मप्रचार का केंद्र तिरुचानूर से तिरुमल में बदल दिया गया। लेकिन ग्यारहवीं सदी में श्रीरामानुज के प्रयत्न से तिल्लै गोविन्दराजस्वामी की उत्सवमूर्ति को कोत्तूरवाले पार्थसारथि आलय के प्रांगण में आश्रय दिया गया तो क्रमशः उस मंदिर के आसपास का मुहल्ला वैष्णवों के आ बसने तथा तिरुमलै से अपना शाश्वत संबंध जोडने और उसी को धर्मप्रचार का केंद्र बनाने में उपयुक्त साबित हुआ, क्यों कि समीप में न कोई शिवालय विद्यमान था न शैवों का आतंक। पार्थसारथि व गोविंदराज मंदिर के चारों ओर तभी माडवीथियों का निर्माण हुआ और इस बस्ती को 'तिरुपति' नाम दिया गया। श्रीरामानुज के संबंध से इसका महत्व और आकर्षण दिनों दिन बढता गया और १०८ दिव्य तिरुपतियों में यह तिरुमलै - तिरुपति सबसे अधिक और प्रधान माना गया।

कालांतर में इस मंदिर के पश्चिम में श्रीनिवासपुर नाम का मुहल्ला बना। पहले के कोत्तूर से सटकर अच्युतरायनगर नामक बस्ती का निर्माण भी हुआ। कितने ही नये नये मंदिरों व मठों का निर्माण हुआ और अंत में ये सब मुहल्ले व गाँव मिलकर आज के तिरुपति शहर का रूप ले चुके। आज तो प्राचीन कोत्तूर अथवा बाद का अच्युतराय नगर नहीं दीखते, उनके खंडहर तो अवश्य दीखते हैं। ग्राम यक्षिणी गंगम्मा का उत्सव तो अब भी हर साल मनाया जाता है।

गोविंदराज मंदिर

तिरुपति के गोविंदराजस्वामी के मंदिर का इतिहास बहुत रोचक है। राजा कुलोत्तुंग चोल के विरोध से डर कर तिल्लै गोविंदराज की मूर्ति को श्रीरामानुजस्वामी यहाँ ले आये और पार्थसारथि आलय में उसे आश्रय दिलाया। बताया जाता है कि यह घटना सन ११३० में गुजरी थी। राजराज चोल के समय तक, अर्थात् सन १२३५ तक गोविंदराजालय के गर्भालय, अंतराल, प्रदक्षिणापथ और मुखमंटप बन चुके। बाद में इसके आनि, मार्गलि, मकर संक्रांति, चित्रा विषुवत, कैसिकी द्वादशी, तिरुमंजन जैसे विशेष उत्सवों को चालू किया गया। विजयनगर राजाओं के जमाने में इसके रागभोगों में और भी उन्नति की गयी। नित्य, पक्ष, मास और वर्षोत्सवों की संख्या भी बढती गयी।

जैसे पहले कहा जा चुका है, गोविंदराजस्वामी का मंदिर तो पार्थसारथि मंदिर के प्रांगण में ही उत्तर की ओर बना है। दोनों मंदिरों को घेर कर उनका प्राकार बना, किंतु गोपुरों की स्थिति तो पहले के पार्थसारथिस्वामी के गर्भालय के द्वार के ही सामने सीधी पंक्ति में संपादित हुई। लेकिन ध्वजस्तंभ, बलिपीठ



आदि को हम गोविंदराजस्वामी के मंदिर के सामने ही देखते हैं। असल में ये पार्थसारथिस्वामी के मंदिर के सामने से कभी हटाकर गोविंदराजस्वामी के मंदिर के सामने रखे गये होंगे। कहते हैं कि गोविंदराजस्वामी की उत्सवमूर्ति भी उसी पार्थसारथि की मूर्ति है।

गोविंदराजालय के प्रथम या सबसे बहिः प्राकार में जो महोन्नत गोपुर है वह उस मंदिर की ही नहीं, बल्कि तिरुपति शहर की भी शोभा बढा रहा है। इस गोपुर को सन १६२४ में मट्ल कुमार अनंतराजा ने बनवाया। गोपुर के अन्यान्य मूर्ति शिल्पों में हम उस राजा तथा उसके परिवार के लोगों के चित्र भी पाते हैं। गोपुर के सामने हनुमान का एक विशाल मंदिर है। गोपुर के प्राकारावरण में पैर रखते ही हम लक्ष्मीदेवी मंटप और वेदांतदेशिक का मंदिर देखते हैं। बगल में ही मनवालमुनि आदि और चार आल्वारों के मंदिर हैं। ये सब विजयनगर राजाओं के जमाने में बने। इनके समीप में ही कुम्भहारति, ऊंजल और बुग्ग मंटपों की स्थिति है। दूसरे प्राकार-गोपुर के निकट पोगै, पूत्त और पेरियाल्वार के मंदिर और एक बडा दुमंजिला लक्ष्मी मंटप भी दीखते हैं।

मंदिर के द्वितीय प्राकार का गोपुर पंद्रहवीं सदी में बना। इस पर रामायण, भागवत आदि के कथाशिल्प और अवतार शिल्प अंकित हैं। इसी गोपुर शिल्प में बने सुदर्शन चक्र को घेर कर एक दुमंजिला मंटप खडा किया गया और वहां चक्रत्ताल्वार का मंदिर बनाया गया। गोपुर से सटकर द्वितीय प्राकार के प्रांगण में सबसे पहले शालैनाच्चियार का मंदिर दीखता है। इसी को पुंडरीकवल्ली तायार का मंदिर कहते हैं। तायार की मूर्ति पद्मावती की मूर्ति की याद दिलाती हुई, वरदाभय पुंडरीक हस्तों से शोभित होकर अत्यंत आकर्षक दीखती है। मंदिर भी गर्भालय, अंतराल और मुखमंटप जैसे सभी अंगों से शोभित है। इसका निर्माणकाल तेरहवीं सदी में माना जाता है।

शालैनाच्चियार मंदिर के पश्चिम में जो विशाल मंटप है, उसे वाहनमंटप के काम में लाते हैं। बाद में जो मंदिर है उसमें तीन आल्वारों की मूर्तियां रखी गयी हैं। इस मंदिर से सटकर श्रीरामानुज का मंदिर बना है। इस के अलग छोटा सा गोपुर, मुखमंटप, अंतराल और गर्भालय बने हैं। यह बारहवीं सदी में बना होगा। इस मंदिर से सटकर तृतीय प्राकार गोपुर से लगकर तिरुमलै नंबि का मंदिर है, जिसमें उनकी मूर्ति शोभित है।

तृतीय प्राकार का गोपुर बारहवीं सदी में निर्मित हुआ होगा। इस प्रांगण में दक्षिण की ओर एक खुला मंटप, रसोईघर, कल्याणमंटप और यागशाला

निर्मित हैं । पश्चिम की ओर एक खुला तंग मंटप है । उत्तर में जो मंटप है वह कमरों में बदल दिया गया । बीच आंगण में कृष्ण-गोविन्दराज और आंडाल के मंदिर हैं । गोविन्दराजस्वामी का कल्याणमंटप तिरुमलै मंदिर के कल्याणमंटप की याद दिलाता है । इसका शिल्प बहुत सुकुमार और सुंदर है । अंदर एक मंदिर भी है । जिसमें श्री-भू-सहित वेंकटेश्वर की मूर्ति शोभित है । वेदी से लेकर शिखर तक के इसके शिल्प में न जाने कितनी ही सुंदर मूर्तियां, विविध-भंगिमाओं में अंकित हैं । कोलाटम नृत्य का अंकन अत्यंत आकर्षक ढंग पर हुआ है । यहां कुछ वर्णचित्र भी दीखते हैं ।

मुख्यमंदिर तो कृष्ण या पार्थसारथि और गोविंदराजस्वामी के मंदिरों का है । दोनों के अपने अपने गर्भालय, अंतराल, प्रदक्षिणापथ और मुखमंटप हैं । पार्थसारथि स्वामी की मूर्ति दो देवियों के साथ आसीन भंगिमा और उपदेश मुद्रा में है । गोविंदराजस्वामी की मूर्ति शयनमुद्रा में है और वह सुधामूर्ति है । दोनों मंदिर एक ही अधिष्ठान पर खड़े हैं । गोविंदराज के मंदिर के सामने एक खुला मंटप, गरुडाल्वार का मंदिर, चित्रकूट मंटप आदि दीखते हैं तो बरामदे में, दक्षिण की ओर आंडाल का मंदिर दीखता है । इसमें आंडाल या गोदादेवी की भव्यमूर्ति, और उस की उत्सवमूर्ति रखी हैं । गोविंदराजस्वामी के उत्सवों में आंडाल की मूर्ति को भी अकसर भाग लेना पड़ता है । आंडाल के प्रत्येक उत्सव, जैसे मार्गलि, अध्ययन, कल्याण, तिरुमंजन आदि भी होते हैं ।

गोविंदराजस्वामी के मंदिर तथा उसके प्रांगण के सभी मंदिरों और मंटपों की विशेषता यह है कि ये समय समय पर निर्मित व नवनिर्मित ही नहीं हुए, बल्कि इनके कुड्य स्तंभ आदि शिल्पों में भी ऐसा समय व रुचि वैविध्य दीखता है । प्राचीन चोल शिल्प से लेकर सत्रहवीं सदी के विजयनगरोत्तर काल तक के सभी शिल्प विशेष यहां दीखते हैं । इन मंदिरों की दूसरी विशेषता यह है कि इनके अलग पूजा-अर्चना व उत्सवाराधना का क्रम तो चालू है । फिर इनके विशेष तिथि अथवा पर्वोत्सवों में तिरुमलै मंदिर से इनको कुछ विशिष्ट. दान, मान संक्रमित करने का रिवाज है । दाक्षिणात्य वैष्णवों के आदर से गोविंदराजस्वामी आंडाल और आल्वारों के ये मंदिर तो दिनों दिन उन्नति पाते आये । खासकर विजयनगर राजा लोगों के जमाने से इनकी पांचों घी में होती आयीं । तब से गोविंदराजस्वामी को तिरुमलै वेंकटेश्वर के आश्रय में पड़ोसी अथवा भाई के रूप में गौरव मिलता आ रहा है । जो हो इन सभी मंदिरों में एक तरह का सामाजिक अथवा साम्यवादी संबंध नजर आता है ।

गोविंदराजस्वामी के मंदिर के सामने जो तालाब है उसे गोविंदराजपुष्करिणी कहते हैं। यह तो सोलहवीं सदी में निर्मित है। आजकल उस में स्वामी का नौकोत्सव मनाया जाता है। मंदिर की अर्चा व आराधना के लिये पहले से भी कपिलतीर्थ के पानी को काम में लाने का रिवाज चालू है। अतएव हर साल स्वामी के चक्रायुध, जिसे सुदर्शन अथवा चक्रत्तालवार कहते हैं, वहां की पुष्करिणी में डुबोया जाता है और उस तरह उस पानी को पवित्र किया जाता है। सोलहवीं सदी के एक अभिलेख में उसको आल्वार तीर्थ भी कहा गया है। आज कल इस तीर्थ को कपिलतीर्थ और आल्वारतीर्थ दोनों नामों से पुकारते हैं। इस ओर चलने वाली सडक को तीर्थकट्टवीथि, कपिलतीर्थम रोड और आल्वारतीर्थ रोड कहते हैं। पहले इसी तीर्थ के समीप अच्युतराय महाराज से निर्मित विष्णु मंदिर और अच्युतराय नगर नामक एक गांव भी थे, लेकिन आजकल उनके खंडहर मात्र पाये जाते हैं।

अब तक के कथन से यह विदित हुआ होगा कि जब से गोविंदराज स्वामी का मंदिर बना तब से विभिन्न आल्वारों के भी मंदिर समय समय पर बनते आये। उसी तरह आचार्य पुरुषों के भी छोटे मोटे मंदिर बने थे। इनमें से बहुत से मंदिर गोविंदराज स्वामी के प्रांगण में ही निर्मित हुए, लेकिन इस से बाहर भी ऐसे कई मंदिर बन चुके। पुरालेखों में ऐसे कितने ही मंदिरों का उल्लेख अवश्य मिलता है, किन्तु वे सब के सब अब देखने में नहीं आते। उनमें से किसी किसी के खंडहर अब पाये जाते हैं। किसी किसी के वह भी नहीं। यों तो पुरालेखों में तिरुपति का प्राचीन रूप ही अलग दीखता है। उनके अनुसार गोविंदराज मंदिर तथा माडवीथियों का मुहल्ला तब रामानुजपुरम कहलाता था। उस से सटकर पश्चिम की ओर नरसिंहतीर्थ के आसपास श्रीनिवासपुर, नरसिंगरायपुर और शायद वेंकटापुर नामक मुहल्ले थे। रामालय के आसपास रघुनाथपुर, और नाथमुनि के मंदिर के आसपास नाथमुनि अग्रहार बसे थे। आल्वारतीर्थ से सटकर पहले के कोत्तूर गांव से लगकर ही अच्युतापुर बना। वादिराजपुर, वरदराजपुर व्यापार वीथि जैसे नाम भी इन लेखों में मिलते हैं। तिरुचानूर को भी किसी जमाने में वरदराजपुर कहते थे। जो हो इन सभी का उल्लेख वहां के कुछ मंदिरों के संबंध में ही हुआ मिलता है और अतएव यह मालूम होता है कि इन मुहल्लों तथा मंदिरों का निर्माण क्रमशः होता चला।

कोदंडरामस्वामी मंदिर

आज तिरुपति शहर में गोविंदराज के मंदिर के बाद सब से अधिक आकर्षक मंदिर पेरियरघुनाथ मंदिर है जिसे कोदंडरामस्वामी आलय भी कहते हैं। यह

सन १४८०–८१ में किसी नरसिहराय मुदलियार नामक अमीर से साल्वनरसिहराय के पुण्यलाभ केलिए बनवाया गया। कई दिनों तक यह कुमार रामानुज पुरमवालों के अधीन रहा। सन १५३० में अच्युतराय महाराज के जमाने में इसका एक अलग दारुनिर्मित रथ भी बना। और कई भक्तों ने भी इस मंदिर की श्री वृद्धि में योग दिया। आज यह एक विशाल मंदिर है जिसके प्राकार, गोपुर, रथमंडप आदि सभी चिह्न विद्यमान हैं। इसके गर्भालय में राम, सीता और लक्ष्मण की हनुमान सहित शिला मूर्तियाँ और उत्सव मूर्तियाँ रखीं हैं। गर्भालय के चारों ओर प्रदक्षणा पथ हैं। मुख मंटप में दायें और बायें आचार्यपुरुषों की मूर्तियाँ हैं। आस्थान मंडप, ध्वजस्तंभ, विशाल प्रांगण और प्रदक्षणापथ तथा ऊंजल मंडप से यह मंदिर बहुत सुंदर दीखता है। मुखद्वार गोपुर के सामने हनुमान का मंदिर शोभित है। पहले से भी इस मंदिर का गोविंदराज मंदिर से कुछ विशेष उत्सवों में संबंध रहता आया। इस तरह इसका संबंध देवस्थान से भी बना है, किन्तु आज भी इसके निर्वहण में वैखानस अर्चकों और धर्म-कर्ताओं का हाथ थोडा बहुत रहता है। कुछ हद तक यह स्वतंत्र मंदिर है। एकांगी लोगों का संबंध भी इस से कम है। इस मंदिर का अलग पुष्करिणी भी है जिसे रामचंद्र पुष्करिणी कहते हैं। लेकिन आजकल उसका उपयोग नहीं होता। रामस्वामी का नौकोत्सव गोविंदराज पुष्करिणी में होता है। रामचंद्र पुष्करिणी के तट पर अगस्तेश्वर स्वामी नाम से शिव का एक मंदिर कभी बना है।

कपिलेश्वर मंदिर

तिरुपति का दूसरा आकर्षण कपिलेश्वर का मंदिर है। यह एक गुफालय है। गर्भालय दो भागों में बंटकर कपिलेश्वर स्वामी और कामाक्षी की मूर्तियों से शोभित हैं। अंतराल मुखमंटप दोनों का एक ही है। प्रदक्षणा पथ बगलवाले एक विशाल मंटप में जाता है जहाँ नौओं ग्रहों, दक्षिणा मूर्ति, सुब्रह्मण्य स्वामी नटराज आदि की शिला व कांस्य प्रतिमायां रखी हैं। बाहर बरामदे में गणपति की मूर्ति है। यह मंदिर दसवीं सदी में कोत्तूर गाँव के मुखिये से बनवाया गया। बगल में दो तीन जलपात हैं जिनमें से एक धारा नीचे वाले तालाब में उतर कर कपिलतीर्थ नामक पुष्करिणी का कारण बनती है। स्वामी के नौकोत्सव यहीं मनाये जाते हैं। सुदर्शन या चक्रत्તाल्वार के संपर्क से इसे आल-वारतीर्थ नाम भी पडा है। नजदीक में नम्मालवार का एक बडा मंदिर है। यह बारहवीं सदी से पहले ही बना होगा। लेकिन अब यह जीर्णप्राय है। समीप में ही पहाड पर चलने वालों के लिए पैदल रास्ता है। वहाँ भी पेरियालवार का एक पुराना मंदिर, साल्व नरसिहराय के जमाने में बना हुआ एक लक्ष्मी नरसिंह मंदिर, कुछ दूर पर पेदचेमुगु पहाडी पर ताल्लपाक मंगम्मा से निर्मित पेरियाल्वार कोयल वगैरह हैं। तिरुमले रास्ते में रामानुज का एक मंदिर है।

कपिलतीर्थ वाली पुष्करिणी को सोपान पंक्ति, संध्यावंदन मंटप आदि से संपन्न किया गया। इसका श्रेय विजयनगर के राजा अच्युतराय पेरुमाल को मिलता है। यहीं ताल्लपाक पेदतिरुमलाचार्य से लक्ष्मीनारायण मंदिर बनवाया गया। बगल में वेणुगोपाल मंदिर भी है। तिरुपति शहर से आल्वार तीर्थ जाने वाली सड़क पर तिरुमंगआल्वार का एक पुराना जीर्ण मंदिर अब भी विद्यमान है। इस से आगे अच्युत पेरुमाल मंदिर तथा अच्युतराय नगर के खंडहर दीखते हैं। कटारि हनुमान अथवा श्याम आंजनेय का मंदिर भी इसी सड़क पर शहर में ही है।

गोविंदराजालय के दक्षिण में सत्रहवीं सदी में बना एक लक्ष्मीनारायण आलय है जिस में पेरियालवार की मूर्ति भी रखी है। उत्तर में सोलहवीं सदी में बना नम्मालवार का एक मंदिर है जिस में आज प्राच्यकलाशाला चल रही है। पश्चिम में व्यापारी वीथि में सोलहवीं सदी में बना तिरुकच्चीनंबि का मंदिर है। इसी दिशा में नरसिंह तीर्थ पर यादव राजाओं से निर्मित लक्ष्मीनृसिंहालय पहले से है। यहां एक रामालय विद्यमान है। शहर में और भी कई आल्वारमंदिर और हनुमान मंदिर दीखते हैं।

शहर के बाहर ग्राम यक्षिणी गंगम्मा का मंदिर है। शहर में भी ऐसी कई यक्षिणी मन्दिरें हैं। हर साल वैशाख शुक्ल त्रयोदशी को इस देवी का बड़ा उत्सव मनाया जाता है। इसका संबंध प्राचीन यादव संस्कृति से है। इसे ताल्लपाक गंगम्मा भी कहते हैं क्यों कि इसका वैसा क्षेत्रीयसंबंध है। तिरुचानूर के मार्गपर भी ऐसी ग्राम यक्षिणी के दो तीन मंदिर दीखते हैं। वहीं लोक संस्कृति के चिह्न ही नहीं, पड़ोस के द्राविड और बाहर के गोरख संप्रदाय के प्रभाव के चिह्न भी दीखते हैं।

तिरुचानूर के मंदिर

तिरुपति के इतिहास से तिरुचानूर का संबंध बहुत पुराना है। जैसे हमने पहले कहा है, वेंकटेश्वर मंदिर के प्राचीन इतिहास के बीजों को तिरुचानूर में ढूंढना है। यहीं के तिरुविलन कोयल, पराशरेश्वरालय आदि का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। यह पराशरेश्वरालय अब बड़ी जीर्णावस्था में है। उसके चारों ओर अब जो गाँव बसा है उसे योगि मल्लवरम कहते हैं। कहते हैं कि कभी शुक महर्षि ने यहीं तप किया था। मंदिर में शुक महर्षि की मूर्ति भी है। लेकिन हमारा ख्याल है कि यह योगि मल्लवरम कभी जैनसिद्धों और योगियों की आवास भूमि रहा हो, जिनकी तांत्रिक साधनाओं तथा यंत्र स्थापनाओं की पीठिका पर आज ये सभी मंदिर और विग्रह खड़े कर दिये गये हैं। पराशरेश्वरालय

4

गर्भालय, अंतराल, मुखमंटप, प्रदक्षणापथ आदि से स्वयम्पूर्ण है। दाहिनी ओर देवी का भी मंदिर बना है। यह दसवीं सदी का मंदिर है। तिरुचानूर का प्रथम आकर्षण पद्मावती का मंदिर है। पुरालेखों में इसका उल्लेख बहुत कम मिलता है। प्रवाद भी यह है कि चंद्रगिरि के पास वाले मंगापुर से पद्मावती की मूर्ति यहाँ उठा लायी गयी है। किंतु प्राचीन बौद्ध साहित्य के आधार पर इतना तो सिद्ध होता है कि ईस्वी सदी के आरंभ में तिरुमलै पहाड के ऊपर मंजु श्री और पहाड के नीचे पद्मश्री की तत्कालीन तांत्रिक सिद्धों ने स्थापना की थी। कालहस्ती, नारायणवन, मामंडूर, चंद्रगिरि, मंगापुर आदि सभी का तिरुपति से उस प्राचीन काल से संबंध है। ये सब सिद्ध क्षेत्र हैं। गोगर्भ आदि में कुछ सुरंग मार्ग भी मिलते हैं, जिनका उन प्राचीन सिद्धों ने उपयोग किया होगा। मामंडूर की तरफ अब भी एक सिद्धेश्वरालय मिलता है। इन सब से यही सिद्ध होता है कि पद्मावती की मूर्ति चाहे कहीं की हो वह अवश्य यहाँ की पुरानी देवी मूर्तियों में एक है। आज इसका मंदिर तिरुचानूर में उस जगह बना है जहाँ पुराना तिरुविलन कोयल रहता था।

तिरुविलन कोयल के जीर्ण होने के बाद उसी जगह उसी के स्तंभ शिला आदि का उपयोग करके तिरुचानूर के कई वर्तमान मंदिर बने हैं। पद्मावती के आलय प्रांगण में एक ही प्राकार में अब तीन मंदिर दीखते हैं। प्राकार गोपुर के ठीक सामने जो छोटा सा मंदिर है वह कृष्ण मंदिर है। यह तेरहवीं सदी में बना है। यहाँ कृष्ण और बलराम की आसीन मूर्तियाँ हैं। मूर्तियाँ दो भुज वाली हैं। मंदिर गर्भालय, अंतराल और मुखमंटप से शोभित है। इस मंदिर के दायीं ओर वरदराजस्वामी का मंदिर है। इसी के कारण तिरुचानूर को कभी वरदराजपुर कहते थे। बायीं ओर पद्मावती का मंदिर है। यह इन सब से बड़ा मंदिर है। लेकिन यह गोपुर के ठीक सामने नहीं है। मंदिर गर्भालय अंतराल, प्रदक्षिणा पथ, मुखमंटप आस्थान मंटप, ध्वजस्तंभ आदि सभी अंगों से सुशोभित है। सभी आलयों को घेरकर एक विशाल प्राकार और गोपुर बने हैं। प्राकार मंटप के दायीं ओर कुछ कमरे बनाये गये हैं। वहीं मंदिर की रसोई में काम देने के लिए एक अच्छा कुआँ भी निर्मित है। बगल में वाहनमंटप आदि भी बने हैं।

तिरुचानूर में और भी छोटेमोटे मंदिर हैं, जैसे सूर्य मंदिर आदि। पद्मावती मंदिर के पास ही गाँव के बीच में पुष्करिणी है। यह सोपान पंक्ति मंटप आदि से सुशोभित है। पुराणों में यह पद्मसरोवर कहा गया है। पद्मावती देवी का नौकोत्सव उसी सरोवर में होता है। किनारे पर यात्रियों की सुविधा केलिए कितने ही मठ, धर्मशाल, आवास भवन आदि बने हैं। मंदिर का निर्वहण यों

तो देवस्थान के हाथ में है. लेकिन तिरुपति के रामालय की तरह यह मंदिर भी कुछ हद तक स्थानिक धर्मकर्ताओं और अर्चकों के हाथ में है। इसका पूजा विधान भी पांचरात्र आगम के अनुसार होता है। पहले भी वेंकटेश्वर मंदिर के निर्वहण में तिरुचानूर के सभैयार का हाथ रहता था। पहले इनके धर्मकर्तृत्व में और कई मंदिर होते थे. लेकिन आज उनमें से बहुत नामावशिष्ट हो गये।

मंगापुर

ऊपर हमने चंद्रगिरि वाले मंगापुर की याद दिलायी है। यों तो आजकल तिरुचानूर को भी मंगापुर कहते हैं। क्योंकि अब अलरमेलमंगा पद्मावती का मंदिर यहीं है। चंद्रगिरिवाले मंगापुर में जो मंदिर अब दीखता है उसमें कल्याणवेंकटेश्वर की मूर्ति है। वह मंदिर काफी बड़ा और भव्य है। इसका निर्माण कब हुआ, यह बताना मुश्किल है। लेकिन सोलहवीं सदी में इसका नवनिर्माण हुआ। इस काम में ताल्लपाक वंशी लोगों का बड़ा हाथ था। कहा जाता है कि इसमें उनके मूलपुरुष अन्नमाचार्य की मूर्ति भी अन्यान्य आल्वारों की मूर्तियों के साथ स्थापित हुई थी। लेकिन आज वह मूर्ति गायब है।

चंद्रगिरि की ओर से भी तिरुमलै पहाड़ पर जाने का एक रास्ता है। चंद्रगिरि में पहले जितने राजवंश हुए, वे सब के सब भगवान वेंकटेश्वर के भक्त हुए। कहते हैं कि उन दिनों में तिरुमलै पहाड़ के घंटा-नाद को सुनकर ही राजांतःपुर के लोग अपना नित्य भोजन किया करते थे। तिरुमलै-तिरुपति के मंदिरों मठों व मंटपों के निर्माण में भी उनका बड़ा हाथ रहा करता था।

वैष्णवधर्म का प्रचार

तिरुमलै-तिरुपति के मंदिरों का इतिहास यहां के वैष्णव धर्म प्रचार के इतिहास से अपना घनिष्ट संबंध रखता आया है। नौवीं सदी से लेकर यहां दाक्षिणात्य वैष्णवों के प्रचार केंद्र बनने लगे। पहले तिरुचानूर में ऐसा एक केंद्र था। बाद में यह केंद्र तिरुपति को बदल दिया गया। श्री रामानुज के समय में दाक्षिणात्यों का यह मानों एक धार्मिक अड्डा बन गया। तब से लेकर न जाने कितने ही वैष्णव कुटुंब यहां आकर बसने लगे। ये लोग तेंगलि वैष्णव संप्रदाय के थे। आल्वारों की अर्चना, द्राविड़ प्रबंध के पठन, पंचरात्र आगम की विधि आदि में इनकी अटल आस्था थी। तिरुपति में जितने आल्वार मंदिर बने वे सब इन्हीं के प्रोत्साहन से बने। तिरुमलै पहाड़ पर तो सिर्फ रामानुज को छोड़ और किसी आल्वार या आचार्य पुरुष का मंदिर निर्मित नहीं हो पाया। इसका कारण यही है कि तिरुमलै पहाड़ के मंदिर में वैखानस आगम

के अनुसार पूजा व अर्चना का क्रम चालू है। लेकिन मंदिर तो न वैखानस आगम के अनुसार बना है न पांचरात्र आगम के। लेकिन मंदिर के नित्य पूजाक्रम में और अन्य उत्सवों में क्रमशः दाक्षिणात्य संप्रदाय बढ़ता आया। मंदिर के धर्म कर्तृत्व में भी इनका हाथ लगा। तभी तिरुमलै मंदिर के नवनिर्माण (मुक्कोटि प्रदक्षिण आदि) में भी बहुत सावधानी से काम लिया गया था। तिरुपति का गोविन्दराज मंदिर पहले से इनका प्रीतिपात्र रहता आया। यहीं कितने ही आल्वारों के मंदिर भी बन पाये। उत्सव क्रमों में यहाँ दाक्षिणात्य संप्रदाय का ही बोलबाला है। वेंकटेश्वर मंदिर से भी इन छोटे मोटे मंदिरों का किसी न किसी तरह संबंध स्थापित किया गया है।

जो मंदिर मंटप, मठ या अन्य धार्मिक संस्था इन वैष्णवों के आदर से वंचित हुई थी वह कालांतर में विनष्ट हो गयी थी। तिरुमलै के अच्युतराय सरोवर, तिरुपति के अच्युतराय नगर, अच्युतपेरुमाल कोयल आदि इसके प्रबल उदाहरण हैं। ताल्लपाक वंशी लोगों के कितने ही दान धर्म इसी तरह अब नामावशिष्ट हो चुके। अभी हमने मंगापुर मंदिर में प्रतिष्ठित अन्नमाचार्य की मूर्ति की बात कही है। उनके संकीर्तन संप्रदाय की भी बाद में ऐसे ही कारणों से क्षति पहुँची हो। ताल्लपाक वंशी लोग पहले अद्वैती थे और बाद में वैष्णव हुए। तिरुमलै व तिरुपति में प्रबंध पठन आदि को जारी करने में, यहाँ के मंदिरों के जीर्णोद्धार में इनकी श्रीवृद्धि में उन्हों ने कितना ही योग दिया। धर्म प्रचार में भी उनका हाथ कम नहीं था। फिर भी वे आंध्रवैष्णव हुए। अतः उनका दाक्षिणात्य वैष्णवों से घनिष्ट संबंध कभी नहीं हो पाया। इसी तरह राजा श्रीकृष्ण देवराय और अच्युतराय की उदार धार्मिक नीति भी इन वैष्णवों के अनुकूल नहीं हो सकी। अतःइनके किये दान धर्म आदि का भी बाद में अच्छा निर्वहण नहीं हो पाया। उनके बनाये मंदिर और मठों का भी क्रमशः नाश होता चला।

कहने की जरुरत नहीं कि ऐसे मन-मुटाव का फल अन्यथा होगा। तिरुमल-तिरुपति के मन्दिरों की बात दूर, मूलमूर्ति श्रीबालाजी वेंकटेश्वर के बारे में तथा उस मंदिर के बारे में भी कितने ही प्रवाद प्रचलित हैं। इन प्रवादों पर झट हमारा विश्वास नहीं होता। फिर भी वेंकटेश्वर माहात्म्य में उल्लिखित विभिन्न पौराणिक कथाओं के आधार पर सचाई की खोज में कुछ छान-बीन करें तो ऐसा अवश्य जान पड़ता कि ये प्रवाद भी अपना कुछ ठोस आधार रखते हैं। उदाहरण के तौर पर एक दो बातें बताकर हम प्रसंग समाप्त करना चाहते हैं।

स्थल-पुराण की विशेषताएँ

पौराणिक कथाओं में एक दो जगह क्षेत्रपाल का वर्णन मिलता है। वर्णन को देखकर कोई साफ समझ सकता है कि वह क्षेत्रपाल भैरव का वर्णन है

यह भी कहा गया है कि उस प्राचीन काल में रातको मंदिर का द्वार बंद करने के बाद चाबी को क्षेत्रपाल के अधीन रखा जाता था । आज तो मंदिर में कहीं भी भैरव की मूर्ती दिखाई नहीं पडती । लेकिन ध्वजस्तंभ के पास वाले एक शिला खंड पर अब भी हर रोज रातको मंदिर का द्वार बंद करने के बाद चाबी लाकर रखते हैं और उसका स्पर्श कराने के बाद ही उसे अधिकारियों के हाथ में देते हैं । यह तो प्रसिद्ध है कि भैरव की परिगणना शिव या शक्ति के परिवार देवताओं में होती है । शायद इसी कारण से हो मंदिर में वैष्णव प्राबल्य हो जाने के बाद भैरव की वह प्राचीन मूर्ति अपने स्थान से हटायी गयी होगी । इस संदर्भ में जान लेने लायक एक दूसरी बात यह है कि गोगर्भतीर्थ के पास में स्थित एक गोल शिलाखंड को क्षेत्रपाल कहा जाता है । कुछ साल पहले तक यह एक धार्मिक न्यायस्थान का काम देता था । लोग अपने झगडों को तय करने के लिए वहाँ जाते थे । उस शिलाखंड के सामने गवाह देकर सौगंध खाते थे और मंदिर के अधिकारियों के मुखतः फैसला सुना करते थे । इससे मंदिर को भी कुछ आमदनी होती थी ।

तिरुमल - तिरुपति का क्षेत्र वराह क्षेत्र कहा जाता है । कहते है कि यहा वराह स्वामी का आविर्भाव पहले हुआ और बाद में उन की अनुमति लिए वेङ्कटेश्वर स्वामी ने यहाँ अपना घर बसा लिया । पौराणिक कथाओं के अनुसार इन दोनों मूर्तियों का आविर्भाव वल्मीकों में से हुआ था । पहले उनकी स्थिति का पता स्थानिक राजा लोगों को मिला तो उन्हों ने सप्रयत्न उनको खोद कर निकलवाया । फिर भी इन दोनों के पाददर्शन दुर्लभ हुए । भगवान की इच्छा समझ कर उनको उसी तरह छोड दिया गया । जो हो आज भी वराहस्वामी या वेङ्कटेश्वरस्वामी के पाददर्शन बहुत दुर्लभ हे ।

पौराणिक कहानियों के आधार पर कोई यह कहे तो आश्चर्य नहीं कि बालाजी वेङ्कटेश्वरस्वामी के हाथों में शंख चक्र के चिह्न नहीं हे । रंगदास नामक भक्त की कहानी में यह बताया गया है कि वह अपने दूसरे जन्म में तोंडमंडल का राजा बन गया और तोंडमान कहा गया । उसने स्वामी के मंदिर प्राकारादि बनवा कर उनका वैभव बढाया । स्वामी भी उससे बहुत प्रसन्न हुए । एक बार राजा को शत्रुओं के साथ युद्ध हुआ तो तब भक्त सुलभ भगवान ने अपने शंख और चक्र को राजा को दे दिया, जिनकी मदद से राजा विजयी बना । तब राजा ने भगवान से यह प्रार्थना की कि आगे चलकर भी भगवान की अर्चामूर्ति शंख चक्र रहित होकर ही रहे । और एक कहानी यह है कि किसी जमाने में सिंहाद नामक किसी राक्षस ने बडा तप किया और वरदान पाकर घमंडी बना । वह उधर देवताओं और इधर मानवों का

सताने लगा। तब स्थानिक राजा तथा प्रजा की प्रार्थना पर भगवान ने अपने शंख और चक्र को राक्षस के ऊपर प्रयोग किया। राक्षस तो मर गया लेकिन भगवान ने अपने आयुधों को राजा के पास ही छोड़ दिया। यही नहीं उन्होंने यह भी कहा कि इस कलियुग में मैं निरायुध हो रहूंगा। हां. कुछ दिनों के बाद कोई एक आदमी यहां आएगा और कृत्रिम शंख चक्रों से मुझे अलंकृत करेगा। लोगों को खुश करने के लिए मैं उनका धारण करूंगा। प्रवाद यह है कि आचार्य श्रीरामानुज ने स्वामी की मूर्ति को ऐसे कृत्रिम शंख चक्रों से सजाया है। रामानुज से पहले जो आलवार लोग हुए उनके वर्णनों के आधार पर भी यह बताया जा सकता है कि स्वामी की मूर्ति शंख चक्र जैसे चिह्नों से रिक्त है। किसी किसी ने स्वामी की मूर्ति में शिव केशव अभेद चिह्नों को भी पाया था। आज स्वामी की मूर्ति हमेशा अर्थात् शुक्रवार के अभ्यंगन समय में भी ऊपर से लगाये हुए आभरण प्राय शंख - चक्र से विभूषित रहती है।

मंदिर के कुछ विशिष्ट आचारों के आधार भी हमें इन पौराणि कथा-ओं में मिलते है। स्वामी की मूर्ति के चिबुक में हमेशा कपूर का खंड रखा मिलता है। कारण यह बताया जाता है कि वल्मीक में से बाहर निकलने के पहले राजा के गोपालक ने अज्ञान से वहां हथियार मारा जिससे स्वामी के चिबुक पर चोट लगी। आज भी ऐसा विश्वास किया जाता है कि उसी घाव को भरने यह कपूर लगाया जाता है। उसी तरह स्वामी के सिर पर भी एक चोट लगी और उसकी रक्षा के लिए अथवा चिकित्सा के रूप में शुक्रवार के दिन आकाश राजा का दिया हुआ किरीट रखा जाता है। गोपालक के अज्ञान को क्षमा करने के लिए राजा ने जो प्रार्थना की उससे भगवान खुश हुए और गोपालक को यह वर भी दिया कि रोज सब से पहले उसी को उनके दिव्य - दर्शन मिलें। आज भी हर रोज सबेरे एक ग्वाला ही स्वामी का मंदिर खोलता है और सबसे पहले उनके दिव्य दर्शन का लाभ उठाता है।

मंदिर का पहाडी दुर्ग

तिरुमलै पर भगवान बालाजी का मंदिर जिस प्रदेस में खड़ा है वह बहुत दिनों तक पहाड़ का शिखर माना जाता था। उसी तरह भगवान बालाजी को भी उच्चियिल निन्र पेरुमाल, अर्थात् उन्नत शिखर पर खड़ा हुआ स्वामी कहकर पुकारते थे। पहाड़ के पाद प्रदेश में स्थित तिरुचानूर के तिरुवेंगडमूडयन. अर्थात् तिरुवेंगडनाथ की तुलना में यह नाम सर्वथा उचित व उपयुक्त जांचता रहा होगा, लेकिन तिरुमलै के अन्यान्य शिखरों की, खासकर मंदिर के चारों ओर की पर्वत शिखरों की ऊंचाई को दृष्टि में रख कर कहना हो तो स्वामीको उच्चियिल निन्र पेरुमाल के बदले मलंकुनिन्र पेरुमाल, अर्थात पहाड़ की घाटी

पर बसा हुआ स्वामी कहना पडता है। हां, तेरहवीं सदी तक यह सत्य भी शायद सर्वविदित हुआ होगा। बादके शिलालेखों आदि से मंदिर के अनुपात से निम्न प्रदेश पर स्थित होने की ओर इशारा मिलता है। दर असल, मंदिर के चारों ओर ऊंचे ऊंचे पहाड घेरे खड़े हैं और इस कारण से मंदिर सहज: एक पहाडी दुर्ग-सा बन पाया। तभी पहले से इसे धर्म व धन का एक सुरक्षा केंद्र-सा काम में लाया गया। जैसे हमने पहले कहा है, ईसवी दसवीं सदी से लेकर अब तक वैष्णव धर्म के प्रचार व प्रसार का यह एक प्रमुख केंद्र रहता आया। कितने ही वैष्णव परिवार यहां आकर इससे अपना शाश्वत संबंध सा बनाकर यहीं स्थिर आवास बना के, यहां से दूर दूर तक अपने धर्म का प्रचार करते आये। उनके शिष्य प्रशिष्यों के प्रयत्न से इसकी ख्याति ही नहीं बल्कि इसकी आर्थिक स्थिति भी दिनों दिन बढती चली। वेंकटेश्वर की हुंडी जगत प्रसिद्ध हो पायी।

प्रादेशिक राजा लोगों की दृष्टि में भी इसका राजनीतिक व सामरिक महत्व कम नहीं था। इस पहाड़ के चारों ओर जो करकंबाडी, कल्लूर, श्रामल-चेरुवु, बालुपल्लि, नागपातालम आदि पहाड़ी रास्ते हैं, उनपर कितनी ही बार सैनिक संचालन नजर आया। पहाड़ के नीचे ही नहीं, बल्कि पहाड के ऊपर, ठीक मंदिर के सामने भी युद्ध तंत्र गुजरे। हारे हुए अथवा थके मांदे राजाओं को ही नहीं वरन् आततायी विधर्मियों से आक्रांत देवी देवताओं की मूर्तियों को भी यहां आश्रय मिलता रहा। हुंडी का आकर्षण तो अवश्य रहता था, किंतु भगवान के प्रभाव से ही क्यों न हो, मंदिर पर हाथ लगाने का साहस तो न किसी को होता था। यात्रियों पर आतंक होते थे, लेकिन मंदिर तो सुरक्षित रह पाया।

समाज पर इसका प्रभाव समय समय पर दीखता आया। जब से राजा तोंडमान को यहां के भगवदावास का पता चला, तब से इसे राजा का आश्रय ही नहीं बल्कि प्रजा का आदर भी अधिकाधिक मिलने लगा। राजा तोंडमान का नाम पुराण प्रसिद्ध है। परंपरा व रूढ़ि के अनुसार भी यही बताया जाता है कि राजा तोंडमान ने ही इस पहाड़ पर स्वामी का मंदिर बनवाया। पुराणों के अनुसार इस राजा ने स्वामी की मदद पाकर यहां के कितने ही राक्षसों से युद्ध करके उनपर जीत पायी। इतिहास के आधार पर यह बताया जाता है कि ईसापूर्व पहली सदी तक यहां असभ्य पहाडी व जंगली लोगों का राज्य चलता था। उनके एक नायक 'पुल्ली' को करिकाल चोल का समकालीन बताया गया। करिकाल चोल ने उन लोगों को हराकर इस प्रदेश पर अपना अधिकार बढाया। उसके पुत्रों में एक आदोंडन हुआ। इसी आदोंडन या उपरोक्त पुराण प्रसिद्ध राजा तोंडमान को शासन भार मिला और यहां के असभ्य जंगली शासकों पर उसी ने पहले पहल विजय पायी। पुराणों में इन्हीं युद्धों का वर्णन जरा अति

रंजित या आलंकारिक ढंग पर किया गया। लेकिन यह सब इस प्रदेश के सामरिक महत्व की ओर इशारा करने में और स्वामी के मंदिर के राजा व प्रजा से समादरणीय संबंध को सूचित करने में पर्याप्त सिद्ध होता है। इस संदर्भ में पुराणों में वर्णित एक दो सुरंग मार्ग भी उल्लेखनीय है। कालहस्ती व तिरुशुकनूर की ओर से एक और तुंबुरुकोना अथवा मामंडूर प्रांत वाली घाटी से एक भूगर्भ-मार्ग पुराणों में अपने सामरिक व सुरक्षा महत्व के लिए वर्णित हुए हैं। उसी तरह सिद्धेश्वर आलय के पास से भी एक सुरंग मार्ग तब चालू था। आज इनमें से एकाध मार्गों के बारे में, जैसे गोगर्भवाले सुरंग मार्ग, जनता में कितनी ही किवदंतियां प्रचलित है।

मूर्ति की विशिष्टता

चोलों के बाद यहाँ आंध्रों का शासन कायम हुआ। उनकी आधीनता में नागराजाओं का यहाँ प्रादेशिक शासन चलता था। उन दिनों में तिरुमलै पहाड़ के आसपास और पहाड़ पर भी सिद्धों के कितने ही आश्रय बने और उनकी गुप्त तांत्रिक साधनाओं का यहाँ एक बडा केंद्र चलता था। उपरोक्त सुरंग मार्गों व सिद्धेश्वरालय का संबंध इन्हीं लोगों से था। यही नहीं तिरुमलै मंदिर की मूलमूर्ति के आकार में भी कुछ ऐसे लक्षण मिलते हैं जो उसके इन नागों और तांत्रिक सिद्धों से संबंध की ओर इशारा करते हैं। इस मूर्ति को कोई बुद्ध कहता है, कोई जैन कहता है, कोई मंजुश्री कहता है तो कोई अवलोकितेश्वर। आस्तिक हिन्दू लोगों में भी कोई कोई इसे शिव मानते हैं तो कोई कोई शक्ति कहते हैं ओर कोई कोई विष्णु। प्रसिद्ध वैष्णव आलवारों की सूक्तियों में भी यही बात सुनाई पडती है कि वेंकटेश्वर की मूर्ति शिव-केशव अभेद मूर्ति है। किसी किसी को यह प्रच्छन्न बौद्धविग्रह दीखा तो किसी किसी को आभास वैष्णवमूर्ति। फिर भी इन वैष्णव आलवारों के कारण इसकी ख्याति तो दूर दूर तक फैली। उनके धर्म प्रचार के साथ साथ इसके वैष्णवत्व का प्रसार भी दिनों दिन बढता गया। आखिर पल्लवों के जमाने में, दक्षिणात्य वैष्णवों के धर्मप्रचार के लिए यही पहाड और इसके पाद प्रदेश में स्थित तिरुचानूर अतीव निर्द्वंद्व व निरातंक केंद्र हो पाये। स्थानिक बाण राजाओं ने इसमें खूब सहयोग दिया।

पल्लवों के बाद, कुलोत्तुंग चोल के समय में इस प्रदेश पर फिर चोलों का अधिकार हुआ। साथ साथ शैवों क प्राबल्य भी हो गया। अतः वैष्णवों को फिर अपने धर्म प्रचार का केंद्र बदलना पडा। और एक बार तिरुमलै पहाड ने अपने यहाँ इनको आश्रय दिया और उसी दुर्ग जैसे निरातंकमयी जगह से वैष्णवों ने अपना धर्मप्रचार किया। उस समय जो एक अपूर्व घटना घटी, उसका तो तिरुमल के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में उल्लेख करना चाहिए। चोल राजाओं के

किसी सामंत शासक की पत्नी समवाई नामक भक्तिन ने तब बालाजी वेंकटेश्वर की एक रजत मूर्ति बनवाई और उसे भोग श्रीनिवास नाम से पहाड़ के मंदिर में प्रतिष्ठित कराई। बस, उस दिन से इस मंदिर की मानों कायापलट हो गयी। श्रीनिवास के नाम पर मानों एक अचंचल वैष्णव मुद्रा ही छोड़ दी गयी। जो हो उस दिन से लेकर मंदिर की नित्य अर्चा व आराधना में एक निश्चित क्रम जारी हुआ।

समवाई या शामव्वे का असली नाम कदवन पेरुंदेवी था। उसने भोग श्रीनिवास अथवा मनवाल पेरुमाल की मूर्ति को तिरुमुडिमाला, उदरबंध, तिरुमार्पट्टिगं, बाहुवलय, तिरुवंध, वडियाल, करं, पदक्वयल, प्रभा जैसे आभूषणों से सुसज्जित किया। स्वामी के नित्य नैवेद्य के लिए, अयन संक्रांति, विषु संक्रांति तिरुमंजन जैसे उत्सवों के लिए और ब्रह्मोत्सव के नौवों दिनों के खर्च के लिए तथा मुक्कोटि के दो दिनों के उत्सव के लिए पर्याप्त धनराशि व जमीन जायदाद का दान दिया। शायद इससे प्रेरणा पाकर ही हो, परांतक द्वितीय की पत्नी अम्मन देवी ने स्वामी को बावन कलंजु भरे सोने का पट्ट दिया जिसमें छः मानिक, चार हीरे और अट्ठाईस मोती जड़े हुए थे। कुलोत्तुंग प्रथम की रानी ने स्वामी की नित्य सेवा के लिए, आवश्यक दूध दही का प्रबंध जताया।

तिरुमल नंबि और श्री रामानुज

इन्हीं दिनों में आलवंदारजी यहां पधारे। उन्होंने अपने पोते श्रीतिरुमल नंबि को स्वामी की नित्यसेवा में नियुक्त किया। तिरुमलनंबि तिरुमलै पहाड़ पर आ बस गये और मंदिर की सेवा में अपने को अर्पित कर चुके। तिरुमलै मंदिर में आज जो श्रीरामपरिवार की मूर्तियां हैं, वे शायद उन्हीं की दी हुई हों। मंदिर में रामारमेड नाम का जो भाग है, उसका निर्माण भी तब हुआ होगा। तिरुमल नंबि की निःस्वार्थ सेवा का प्रभाव कम नहीं था। श्रीरामानुज ने इन्हीं से रामायण के विशेष तत्वार्थ का अध्ययन किया। मंदिर के अर्चक लोग जो वैखानस संप्रदाय के थे, उनसे श्रीरामानुज ने मानों एक सुलह ही कर ली। फलस्वरूप यहां वैखानस व पांचरात्र के बीच संप्रदाय भेदों को लेकर कोई झगड़ा नहीं हो पाया। दोनों सामरस्य से स्वामी की सेवा कार्य में दत्तचित्त हुए और मंदिर की अर्चा आराधना भी एक सुनिश्चित शास्त्रीय प्रणाली पर जारी हो सकी। रामानुज ने तिरुपति शहर की भी उन्नति में साथ दिया। उनकी प्रेरणा व प्रोत्साह से कितने ही दाक्षिणात्य वैष्णव यहां आकर बस गये और अपने को तिरुमलै-तिरुपति के अविभाज्य परिवार मानने लगे। गोविंदराजस्वामी का मंदिर, जो रामानुज की कोशिश से यहां स्थापित हुआ, दिनों दिन तरक्की पाता

चला। उस मंदिर के आवरण में कितने ही आल्वारों व आचार्यों के मंदिर बने और उनके जरिए तेंगलि वैष्णव संप्रदाय की नींव भी यहां मजबूत होती चली।

श्रीरामानुज की कोशिश से तिरुमलै-तिरुपति के मंदिरों में पूजा अर्चा व आराधना के क्रम में तो शास्त्रीयता और सामरस्यता के विधान संपन्न हो सके, किंतु मंदिर के धर्मकर्तृत्व में अब भी कुछ अच्छी व्यवस्था बाकी रह गयी। तिरुचानूर सभैयार का हाथ अब भी यथापूर्व चलता था। एक दो उदाहरण ऐसे भी मिलने लगे जब कि सभैयार ने अपने कर्तव्य को पूरी तरह नहीं निभाया। ऐसे अवसरों पर स्थानिक राजा लोग शिकायतों की जांच कराते थे और न्याय का निर्वहण यथोचित ढंग पर करते थे।

मंदिर का नवनिर्माण

चोलराजाओं के जमाने में उनके अधीन यादवराजा लोग तिरुमलै-तिरुपति प्रांत के शासक थे। जब चोलों पर पांड्यों की जीत हुई और सुंदर पांड्य का नेल्लूर में वीराभिषेक रचा गया, तब से ये लोग पांड्यों के अधीन शासक बने। बाद में वीर नरसिंह यादवराज ने अपने को स्वतंत्र घोषित किया। ये लोग तिरुमलै मंदिर की उन्नति में दत्तचित्त रहते आये। नरसिंह यादव ने मंदिर को ग्रामदान दिया। उनकी रानी ने ६४ गायें और २ बैल तथा एक जमीन दान में दी। इस परिवार के और एक सज्जन ने नित्याराधन के लिए जमीन दी। वीर नरसिंह की अनुमति पाकर तिरुप्पलनि दासार नामक एक भक्त यात्री ने मंदिर का नवनिर्माण कराया। नरसिंह ने खुद अपने तोल भरे सोने से मंदिर को सुवर्णगिरि मेरु के समान सुवर्णरंजित कराया। पहले सुंदर पांड्य के नाम पर मंदिर के शिखर पर सुवर्णकलश स्थापित हुआ।

यादवराज तिरुवेंकटनाथ ने स्वामी के आदि-तिरुनाल् की नींव डाली और उसके लिए एक गांव दान में दिया। उन्हीं के श्वसुर महाप्रधानी सिंगय दण्णायक ने शीतकर संधि उत्सव का प्रबंध किया। दण्णायक होयसाल राजा वीर बल्लाल के सेनाध्यक्ष और महाप्रधानी थे। मैसूर प्रांत में रामानुज के प्रवास काल में ही वैष्णव धर्म का प्रचार खूब हुआ हो। दण्णायक के पूर्वजों ने वैष्णव दीक्षा ली और कितने ही मठ, मंडप मंदिर और नंदनवन बनवाये। बढ़ती मुस्लिम शक्ति को रोकने और यादवराजाओं की मदद करने के लिए दण्णायक तिरुपति आ ठहरे। यादवराज श्रीरंगनाथ के समय में भी मुसलमानों का आतंक नहीं घटा। श्रीरंगम कोयल ओलुगु के अनुसार इसी समय श्रीरंगनाथ की मूर्ति श्रीपिल्लै लोकाचार्य जैसे भक्तों से तिरुमलै पहुंचायी गयी, जहां उसको आश्रय

दिया गया। श्रीरंगनाथ ने रंग मंटप का निर्माण कराया। तिरुमलै पर कितने ही मठ, मंडप व उद्यान बनवाये और आलंटोत्सव का क्रम जारी किया। हां, स्वामी रंगनाथ की मूर्ति के साथ दक्षिण के मंदिरों के उत्सव संप्रदाय भी तिरुमलै में आगये। वेंकटेश्वर की उत्सवमूर्ति का भी इसी समय पहला उल्लेख मिलता है। उभय नाच्चियार सहित मलैयप्प स्वामी की मूर्ति भी मंदिर में प्रतिष्ठत हो पायी। कहते हैं कि यह मूर्ति पहाड़ की किसी घाटी में मिली थी। हो सकता है कि इस मूर्ति का संबंध तिरुचानूर के तिरुविलन कोयल से रहा हो। जो हो, इस उत्सव मूर्ति के स्थापित होने पर रंगनाथ के उत्सवों की देखा-देखी में वेंकटेश्वर के उत्सवों का भी एक निश्चित क्रम और नियमित संप्रदाय चल पड़ा। यादवराजाओं ने इसमें अवश्य ज्यादा उत्साह दिखाया। स्वामी का वसंतोत्सव भी उसी समय शुरू किया गया। होयल यादवराय ने स्वामी के वरदहस्त को सुवर्णरंजित करके उसकी शोभा में चार चांद लगाये।

वह जमाना बहुत सी बातों के लिए स्मरणीय हुआ। दक्षिण पर मुसलमान आक्रमण, हिन्दुराज्यों का पतन, पुनरुत्थान के प्रयत्न, तोंडमंडल के बाहर वीर शैव, माध्व, श्रीवैष्णव संप्रदायों का प्रचार, बौद्ध का ह्रास और तांत्रिक सिद्धों का नाश, ऐसी कितनी ही घटनाएं इसी जमाने में गुजरीं। आंध्रप्रांत में रामानुज वैष्णव धर्म का प्रचार भी उसी समय जोर से होने लगा। विजयनगर साम्राज्य की भी इसी समय नींव डाली गयी।

नये नये उत्सव

विजयनगर राजाओं के जमाने में तिरुमलै-तिरुपति की कितनी ही उन्नति हुई। बुक्कराय प्रथम ने स्वामी के कैंकर्य (सेवा) में दो गांव समर्पित किये। हरिहर प्रथम के समय में ही, शायद श्रीरंगनाथ की मूर्ति फिर उसके असली स्थान श्रीरंगम पहुंचायी गयी। इस काम में विजयनगर राजकुमार कंपराय और उसके सेनानी गोपन्ना ने अतीव साहस व उत्साह से काम लिया और गिंजी के मार्ग स्वामी की मूर्ति को श्रीरंगम पहुंचाया। महा मंडलेश्वर मंगिदेव महाराज ने तिरुमलै मंदिर के विमान को सुवर्णरंजित कराके शिखर पर कलश की स्थापना की। कुमार कंपराय के मंत्री ने मंदिर की सेवा में अट्ठाईस गायें व एक बैल दान में दिये। मुल्लतिरुवेंकट जिय्यर नामक वैष्णव ने राजा हरिहर राय के यशोलाभ के लिये मासि-तिरुनाल उत्सव का क्रम जारी किया। इसी समय तिरुमलै मंदिर में उत्सव मूर्ति के सामने तिरुप्पावै पठन का उत्सव पहली बार मनाया गया। गोदा तिरुनाल भी बाद में शुरू किया गया। इन उत्सवों तथा विशेष दिनों आदि का प्रभाव दिनों दिन बढ़ता गया तो वेदाध्ययन की क्रमशः उपेक्षा

होती चली। तभी देवराय द्वितीय ने इसका पुनरुद्धार ही नहीं किया, बल्कि अलगिप्पिरानार की सलाह पर इसे शाश्वत बनाने के लिए, गांव, जमीन और निधि का प्रबंध किया। देवराय ने आश्विन मास के उत्सव के लिए, सुगंध द्रव्यों व तेलों के खर्च का भी समुचित प्रबंध किया। इसी समय, चंद्रगिरि के महादेव-दासार नामक भक्त ने तिरुमलै मंदिर के आनंदविमान की मरम्मत कराके तिरुमामणि मंडप का निर्माण कराया। इसी तरह और और सज्जनों के उत्साह-पूर्ण दान धर्मों के फल स्वरूप, उस समय तिरुमलै मंदिर में कितने ही नये उत्सव शुरू हुए, जिनमें एक है तिरुक्कोटि तिरुनाल, जिसमें अधिवासम् तीर्थवारिदिन जैसे अन्य उत्सव सम्मिलित थे। रायार संधि नामक उत्सव भी इसी तरह श्रीमहामंडलेश्वर चिरुमल्लय्यदेव से शुरू किया गया। बुक्करायसंधि भी इसी तरह का उत्सव था। श्रीपुष्पयागम् नामक उत्सव सात दिन तक चलाया जाता था। तिरुवायमोलि का अध्ययनोत्सव भी महीने भर चलता था। सालुव वंशी लोगों की वेंकटेश्वर-भक्ति अत्यंत आदर्शमय और अनुकरणीय बनी। इस वंश के गोपराय, पर्वतराज, त्रिपुरांतक, एर्रमराज जैसे कितने ही लोग तिरुमल मंदिर को अपने दान-धर्मों से संपन्न कर गये। कंपय्यदेव, तिम्मय्यदेव चोड़, वल्लभदेव आदि के नाम भी मंदिर के दान पत्रों व अभिलेखों में अकसर सुनाई पड़ते हैं।

आश्चर्य की बात यह है कि उस जमाने के आंध्र साहित्य में तिरुमलै-तिरुपति या श्रीवेंकटेश्वर का उल्लेख नहीं मिलता। संस्कृत में तो श्रीवैष्णवों की रचनाओं में इसका उल्लेख अवश्य मिलता है और तमिल में भी इसके यशोगान सुनाई पड़ता है किंतु तेलुगु में नहीं। सिंहगिरि वचन कर्ता कृष्णाचार्य के बाद फिर तेलुगु के कवित्रय में सिरफ़ एर्राप्रगड ने अपने नृसिंहपुराण में एक जगह 'वेंकटाचलस्थायी' का नाम लिया, किंतु उसने भी इसकी प्रशंसा ज्यादा नहीं की। जान पड़ता है कि उन दिनों में अहोबल नरसिंह की ख्याति वेंकटेश्वर की अपेक्षा ज्यादा थी। आंध्रप्रांत में वैष्णवधर्म के प्रचार में भी अहोबल मठ और शठगोप-यति का हाथ ज्यादा रहा। उपरोक्त संगम वंशी और सालुव वंशी राजा लोग और उनके सरदार अहोबल नरसिंह के भी भक्त थे। उनमें से कुछ लोगों ने वहां भी दान धर्म किये। लेकिन इन्हीं लोगों के जरिए तिरुमलै-तिरुपति की भी ख्याति बढ़ी। इन्हीं के जमाने में तिरुमलै-तिरुपति में अरसनालयम नंदनवन और मठ तथा अहोबलमठ की स्थापना हुई।

नयी व्यवस्था

प्रसंग प्राप्त समय में मंदिर का निर्वहण भी पहले के सभंयार के बदले, उसी की एक सुसंस्कृत समिति के हाथ लगा, जिनमें तिरुपति के कुछ सज्जन भी सदस्य रहते थे। अर्चकों और मंदिर लेखकों को भी निर्वाहक समिति में सदस्यता दी गयी। राजा का समिति पर सर्वाधिकार होता था। मंदिर में दिनों दिन उत्सवों की बढती होती गयी तो प्रसादों की ज्यादती भी होती चली और उनके द्वारा धनार्जन की बुराई भी फैलती गयी। एक दो उत्सव ऐसे भी बने जिसमें मंदिर निर्वाहकों को 'कैकानुर्क' अर्थात् नकद रूप में सेवा मूल्य दिया जाता था। तिरुपति शहर में भी कई नये मंदिर व मठ बने। वहाँ भी ऐसे उत्सव शुरू हुए। यात्रियों की सुविधा केलिए कई सत्रों व धर्मशालाओं का निर्माण हुआ। अन्न सस्ते में मिलता था। लेकिन जमाना यात्रा करने अनुकूल नहीं था। इन्हीं दिनों में दो बार मुसलमानों की सेनाएँ दक्षिण पर आतंक मचाते गुजरी थीं। संयोग-वशात् दोनों बार तिरुमलै पर उनकी दृष्टि नहीं पडी। उधर अहोबल पर उनका आतंक मचा। कांची व श्रीरंगम में उनके अत्याचार गुजरे। लेकिन श्रीवेंकटेश्वर की कृपा से तिरुमलै-तिरुपति के मंदिर इस रक्तपात व ध्वंस-विध्वंस की आंच से बच गये।

इस जमाने में तिरुमलै-तिरुपति को वैष्णव धर्म प्रचार के लिए एक सुरक्षित दुर्ग जैसा माना गया। दक्षिण के वैष्णव लोग यहाँ आ बस गये और यहाँ के तेलुगु कन्नड जनता में तमिल प्रबंध का प्रचार और वैष्णव धर्म का प्रसार करने लगे। यादवराजाओं के साथ साथ स्थानिक तमिल राजसत्ता का मानों अंत हो चुका। विजयनगर राजा लोग तो कन्नड व तेलुगु प्रांत के अधिपति होने में और विशाल साम्राज्य के निर्माण में दत्तचित्त होने से धार्मिक मामलों में समानता और औदार्य से काम लेते थे। अतः संगम वंशी राजाओं के जमाने में तिरुमलै तिरुपति मंदिरों को स्थानिकों से जितने दान धर्म मिले उतने राजा लोगों से नहीं मिल पाये। जो मिले वे भी स्थानिकों के प्रोत्साहन से ही मिल सके। परिस्थिति को जानकर मंदिर निर्वहण की अपेक्षा मत-प्रचार की ओर यहाँ के आचार्य पुरुषों ने ज्यादा ध्यान दिया। समूचे आंध्र व कर्णाटक प्रांतों में उन्होंने धर्मप्रचार के लिए दौरे किये। जगह जगह पर वैष्णव मंदिर बनवाये। मठों की स्थापना करायी। सात्ताद वैष्णवों को दीक्षा दी। दासरि प्रथा को जन्म दिया। आखिर इनके निस्वार्थ धार्मिक जीवन का प्रभाव राजा लोगों पर भी धीरे धीरे पडने लगा। जब सालुव वंशी राजा नरसिंहराय को गद्दी मिली तब तिरुमलै-तिरुपति की उन्नति में एक नया अध्याय ही खुला।

सालुव नरसिंहराय के समय तक मंदिर के अधीन में कुल मिला के सोलह गाँव थे और अन्यत्र भी सुदूर दक्षिण देश तक मंदिर की भूसंपत्ति फैली थी। चोलराजाओं के जमाने में तिरुमलै प्रांत का अलग कोट्टम अर्थात् जिला रहता था, जिसके ज्यादातर भाग मंदिर के या तो काम आता था या उससे किसी न किसी तरह संबंध रखता था। स्थानिक अधिकारी लोग और आसपास के नाडु अर्थात् ताल्लुक तथा कुट्रम अर्थात् ग्राममंडलों के अधिकारी लोग भी तिरुमलै-तिरुपति मंदिरों की उन्नति में समय समय पर योग देते आये। मंदिर के दान पत्रों में पोन् अर्थात् सुवर्णमुद्राओं अथवा पणम् सिक्कों का खूब उल्लेख मिलता है। कहीं कहीं जमीन की आय का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जब कभी वह आय नियमित उत्सवों के खर्च के लिए काफी नहीं होती थी तब उसे सुवर्णदान से पूरा किया जाता था। मंदिर की जमीनों की समय समय पर मरम्मत होती थी। बांध नाले वगैरह का प्रबंध भी होता था। मंदिर का राजभंडार व पोनभंडार की लेखा-जोखा का काम एक विशेष अधिकारी के हाथ रहता था। मंदिर के धर्मकर्ता लोग, अर्थात् तिरुचानूर के सभैयार, तिरुपति के स्थानिक व्यापारी व सज्जन और तिरुमलै के जिय्यर सब के सब दानी व मानी भी होकर मंदिर की श्रीवृद्धि में साथ देते चले। इन सभी के कारण मंदिर की आय ही नहीं बल्कि उसकी शान भी दिनों दिन बढ़ती गयी।

नये दान-धर्म

नरसिंहराय के जमाने में मंदिर को मिले दान-धर्म संबंधी अभिलेखों से पता चलता है कि उस जमाने मे तिरुमलै-तिरुपति क्षेत्र की कितनी ही उन्नति हुई। सबसे पहली विशेषता यह है कि उस जमाने में मंदिर की ख्याति दूर दूर तक फैली। मंदिर की भूसंपदा भी बहुत बढ गयी। पहले के गाँवों में अब नये रूप से छब्बीस गाँव लग गये। ये सभी गाँव कुछ विशेष उत्सवों को जारी करते दिये गये किंतु उनकी आय के बारे में स्पष्ट उल्लेख तो कहीं नहीं हो पाया। नकद रूप में दिये दानों का परिमाण भी कम नहीं। विभिन्न समयों में विभिन्न व्यक्तियों से कुछ विशिष्ट उत्सवों के लिए दिये दानों की नकद कुल मिला के एक लाख पणों से बढ़कर दीखती है। कहने की जरूरत नहीं कि इन सब दान पुण्यों के फलस्वरूप तिरुमलै व तिरुपति के मंदिरों का वैभव खूब बढ़ गया। दर असल तिरुपति के मंदिरों की विशेष उन्नति तो इसी जमाने में हो पायी।

उस जमाने के दान-धर्मो की दूसरी विशेषता यह है कि उनमें ज्यादातर दान-धर्म दाता की आध्यात्मिक उन्नति के बदले ऐहिक उन्नति की ओर लक्ष्य किये हुए जैसे दीखते हैं। राजा नरसिंहराय ने उधर उडीस्सा के गजपतियों से

और इधर दक्षिण के मुसलमानों से कितनी ही लड़ाइयां कीं । साथ साथ हंपी की गद्दी को हस्तगत करने को वह सदा सप्रयत्न रहता था । इन सभी संकटों को पार करके जब वह गद्दी पर बैठा तब उसने जो दान-धर्म किये उनसे संबंध रखनेवाले अभिलेख में यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित किया गया है कि ये दान-धर्म तो श्रीवेंकटेश्वर स्वामी को पहले की मनौती के अनुसार विजय प्राप्ति व यशोलाभ पर कृतज्ञता पूर्वक किये जा रहे हैं । राजा के परिवार, राजसचिव, सामंत व अन्य लोग भी इसी तरह या तो अपने विशिष्ट उद्देश्य या अभिलाष की पूर्ति के लिए अथवा राजा के यशोलाभ के लिए ऐसे दान करते थे । जो हो, अब वेंकटेश्वर स्वामी की ख्याति अभीष्टवरद के रूप में स्थिर हो चुकी । वह आपदुद्धारक माने गये । लोगों का विश्वास भी बढ़ता गया । दूर दूर से यात्री आने लगे ।

उस जमाने में रोज मंदिर में आनेवाले दर्शनार्थी यात्रियों की संख्या का भी हम एक तरह से अनुमान लगा सकते हैं । मंदिर में पहले से ज्यादा प्रसाद बनता था । रोज लगभग २०० मरक्कल चावल अन्न और अन्य प्रसादों के लिए खर्च होता था, जो करीब दो हजार लोगों को काफी था । विशेष उत्सवों में इसका दूना प्रसाद बनता था और यात्रियों में बंटता था । तिरुमल व तिरुपति में रामानुजकूटमों, अन्न सत्रों, अन्य मठों में रोज करीब एक हजार वैष्णव यात्रियों को खाना दिया जाता था । उत्सव दिनों में इनका वितरण और भी ज्यादा रहता था । यह सब देखते मालूम होता है कि वह जमाना धन-धान्य-समृद्ध था और यात्री जहां कहीं भी जाते सुखी व निश्चिंत होते थे ।

बढ़ता वैभव

उस समय उत्सवों की संख्या भी बहुत बढ़ गयी । ब्रह्मोत्सव, वसंतोत्सव, मुक्कोटि, मार्गलि जैसे पुराने उत्सवों के साथ उगादि, दिवाली, आडि-अयन, उत्थान एकादशी व द्वादशी जैसे नये उत्सव शुरू किये गये । बुक्कराय संधि की तरह नरसिंह संधि जैसे नये संधि उत्सव शुरू हुए । अन्न ऊंजल, डोला, नौका, आखेट जैसे उत्सव बड़े वैभव व खर्च से मनाये जाने लगे । तिरुपति की मंदिरों में भी पारुवेटा, गोदा तिरुनाल, आल्वार संधि जैसे कितने ही नये उत्सव शुरू किये गये । उत्सवों की शान बढ़ाने कई नये नये मंदिर, मंटप, गोपुर आदि का भी निर्माण किया गया । पुष्करिणी में वसंतमंटप का निर्माण हुआ । आनंद पिल्लै मंटप, अन्न ऊंजल मंटप, नावलूर मंटप, पडियवेट मंटप जैसों का निर्माण इसी तरह संपन्न हुआ । रथोत्सव का नया क्रम जारी हुआ । उत्सवों में तिरुमल व तिरुपति के मंदिरों में एक तरह का समन्वय लाने का प्रयत्न भी नजर आया । उगादि और दिवाली के उत्सवों को शुरू करके सौर और चांद्रमानों के उत्सवों का

समन्वय संपादित किया गया। द्राविड प्रांत में सौरमान और तेलुगु प्रांत में चांद्रमान कभी से प्रचलित पंचांग पद्धतियाँ हैं। अब इन दोनों को मान्यता मिली। तिरुपति में होनेवाले उत्सवों को तिरुमलै से कुछ विशेष अनुदान मिलने लगे। गोदा देवी को तिरुमलै से आनेवाले प्रसाद, परिवट्ट आदि को स्वीकार करने के लिए पहाडी रास्ते के पास ले जाते थे। श्रीवेंकटेश्वर की उत्सव मूर्ति को वराह स्वामी के मंटप में ले जाकर वहाँ उनका तिरुमंजन करते थे। मूलमूर्ति के साथ उत्सवमूर्ति और भोगमूर्ति के भी तिरुमंजन, तिरुकापु, पुनुगुकापु उत्सव मनाये जाने लगे। प्रबंधपठन को अध्ययनोत्सव नाम से कई दिनों तक मनाते थे। कैसिक पुराण के पठन के साथ तिरुवेंकट माहात्म्य का भी पठन शुरू हुआ। अलरमेलमंगा को शुक्रवार के दिन अभिषेक उत्सव मनाये जाने लगा। तिरुपति में पेरिय रघुनाथ कोयल और कुलशेखर आल्वार मंदिर का निर्माण हो गया। इनकी शान बढ़ाने में कई दान धर्म व उत्सव किये गये।

उन दिनों में होनेवाले उत्सवों की एक तालिका से यह पता चलता है कि साल में १५३ दिन उत्सव दिन माने जाते थे। इन उत्सवों की संख्या इस तरह बढाने में राजा नरसिंहराय और उनकी राणी ही नहीं बल्कि और कई सज्जन भी अपना सहयोग दे गये। राजा के आप्तमित्र वर्ग में श्रीकंवाडै रामानुजय्यंगार एक हुए। वे मंदिर के श्रीभंडार के कार्यकर्ता बने और रामानुजकूटमों का धर्मकर्ता भी रहे। उनके सहयोग से कितने ही नये उत्सव शुरु किये गये। खासकर प्रबंध पठन, आल्वार संधि, पारुवेटा, नावलूर तिरुवेंचेपु, पुनुगुकापु जैसे उत्सव उन्हीं की प्रेरणा से शुरु हुए। यही नहीं, उन्होंने अपने जन्म नक्षत्र के दिन भी एक उत्सव मनवाया। कुलशेखर मंदिर का निर्माण करके तिरुमलै मंदिर से उसके राग भोगों के लिए कुछ जमीन ले ली। स्थानत्तार से जमीन लेकर मंदिर के आभरणों की मरम्मत करवायी। मंदिर की जमीनों की सिंचाई का प्रबंध भी कराया। अपने जान-पहचान वालों से कितने ही उत्सवों के लिए नकद दान दिलवाये। दाता का प्रसाद भाग रामानुजकूटम को मिलता था, जहाँ चात्ताद श्रीवैष्णवों को दोनों जून खाना मिलता था। मंदिर की सेवा में और अध्ययन उत्सव में चात्ताद वैष्णवों को भी अन्य श्रीवैष्णवों के साथ मान सम्मान मिलने लगा।

प्रसादों की संख्या व परिमाण की बढ़ती के फलस्वरूप मंदिर के कार्यकर्ताओं को नकद भेंट दिलाने का रिवाज शुरू हुआ। एक अभिलेख से यह पता चलता है कि २९ अवसरों पर नकद के रूप में पचास-साठ कार्यकर्ताओं को १४० भागों में सेवा मूल्य मिलता था। इस अभिलेख के अनुसार उस समय मंदिर की सेवा में उद्योगी, तिरुप्पाचि पिल्लै, तच्चिनैक्कारर, प्रबंधपाठक, कंगनियप्पन, वाहक

अधिकारी, विभागक, दीपाराधक, विज्ञापक, प्रकटनकर्ता, नाटयाचार्य, नर्तक गायक, मार्दंगिक, वांसिक, तालवाद्यक, शिल्पी, कुंभकार, लकड़हारे और चपरासी जैसे कितने ही लोग ऐसी भेंट पाने लायक होते थे। इस सूची में वेद पाठकों का नाम नहीं मिलता। लेकिन नर्तकियों का और श्रीभंडार कार्यकर्ता का नाम विशेष दर्शनीय है।

उस समय के उत्साही दाताओं में रामानुजय्यंगार के शिष्य और राजा के प्रीतिपात्र नरसिंग मुदलियार का नाम अग्रगण्य है। प्रबंधपठन आदि के लिए उन्होंने कितने ही दान दिये। इसी तरह कोम्मराज पेरियतिम्मराजु की पत्नी नरसम्मा, वंचिराजु तिम्मयदेव महराय, शठगोपदासर, सालुव मल्लय्यदेव महराय, सालुव तिम्मराज, तोलप्प अय्यंगार, कुमार तातय्यंगार, सोट्टै तिरुमलनंबि परिवार के लोग, आचार्य पुरुष, राव चिन्न भूपाल नृसिंह नर नायक, केशिनायक आदि दाताओं के नाम भी इस संदर्भ में स्मरणीय हैं। राजा और रानी के दान धर्म अलग हैं। स्थानत्तार का प्रभाव दिनों दिन घटता गया और दाता लोगों की इच्छा और अभिलाषा के अनुसार मंदिर के उत्सवादि का निर्वहण होने लगा। आचार्य-पुरुषों को मंदिर के निर्वहण कार्य से दूर रहकर धार्मिक मामलों में दत्तचित्त रहने और धर्मप्रचार में भरसक योग देने का काम नियत हो गया।

रामानुजय्यंगार और उनके मित्रों के प्रोत्साह व प्रयत्न से जो जो संस्कार हुए उनमें से किसी किसी का सामाजिक महत्त्व बहुत है। साथ साथ इनका धार्मिक महत्त्व भी कम नहीं है। वैष्णवों में भक्ति सब कुछ है। भक्त किसी भी कुल का हो भगवान के सामने सभी वैष्णव भक्त बराबर हैं। यहाँ ऊँच नीच का भाव नहीं हैं। सात्ताद श्रीवैष्णव सभी वर्णों व कुलों के भक्त हैं। उनको अन्य श्रीवैष्णवों के साथ समानरूप से प्रबंध पढ़ने, प्रसाद पाने और भगवान के कैंकर्य में भाग लेने का जो अधिकार दिया गया वह एक धार्मिक आदर्श ही नहीं बल्कि सामाजिक आदर्श को भी प्रत्यक्ष कर सका। साथ साथ प्रबंधपठन जैसे उत्सवों के जरिए मंदिर में द्राविड़ संप्रदायों को जो मान्यता दी गयी उससे वडगलि तेंगलि अथवा आंध्र द्राविड वैष्णव संप्रदायों में भी एक तरह का समन्वय संपादित हो पाया। मंदिर के वैखानस अर्चकों से मानों एक तरह की राजी की गयी और स्थानत्तार का अधिकार जरा उपेक्षित किया गया। फिर भी उत्सवों की इतिवृद्धि और मंदिर संपदा की श्रीवृद्धि से उन लोगों का सहयोग भी इन सभी कामों में प्राप्त होता था। बढ़ते वैभव के कारण कुछ बुराइयाँ भी अवश्य फैलीं। प्रसाद की ज्यादती ने उसके विक्रय को मान्यता दी। जब विक्रय एक रिवाज सा होगया तब कुछ दिनों तक टिके रहनेवाले प्रसादों का निर्माण ज्यादा हुआ। फिर आखेट, जैसे उत्सवों में नाच गाने का रिवाज जो चल पड़ा, उसका बुरा परिणाम यह हुआ

कि एक दो अवसरों पर भगवान की कीर्ति के बदले रामानुजय्यंगार जैसे प्रतिष्ठित व्यक्तियों की कीर्ति व प्रशस्ति गाने का रिवाज चालू किया गया। आखिर नर्तकियाँ ही नहीं, बल्कि आंडाल की मूर्ति भी ऐसे वैयक्तिक विभव प्रदर्शित करने वाले उत्सवों के काम में लायी गयी। पर ऐसी दूषित प्रथाओं का अंत बहुत जल्दी हुआ।

मंदीर की ख्याति

नरसिंहराय का पुरखा कल्याणपुर नैजाम प्रांत से यहाँ आया। मंगिदेव महाराज के समय में ये लोग चंद्रगिरि के स्थानिक शासक बने। नरसिंहराय टंगुटूर में रहते वक्त भी चंद्रगिरि में अपना मूल बल रखकर समय समय पर इस प्रांत में दौरा करता आया। युद्धों के बहाने उसको उधर मछली-पट्टणम और इधर दक्षिण में मधुरा तक जाना पड़ा। उसके साथियों में कन्नड, तमिल व तेलुगु के लोग कई हुए। फलतः वह इन सभी के प्रति उदारता से बरतने लगा। मंदिर के दान शासनों में कन्नड व तेलुगु के लेख अभी से मिलने लगते हैं। नरसिंहराय के राज्य काल में ही तिरुमलै - तिरुपति की ख्याति समूचे आंध्रप्रांत में फैल गयी। आंध्रसाहित्य में श्रीवेंकटेश्वर के नाम पर लिखे काव्यों का आरंभ भी इसी काल में हुआ।

विख्यात वैष्णव भक्त वाग्गेयकार शिरोमणि पदकविता पितामह श्रीताल्लपाक अन्नमाचार्य इसी जमाने में हुए। राजा नरसिंहराय से उनकी बड़ी दोस्ती थी। उनके आह्वान पर वे हंपी विजयनगर भी गये। शायद उनको वहाँ के अन्यान्य वैष्णव भक्तों और दास संप्रदाय के लोगों का संपर्क मिला होगा। उनके पदों का प्रभाव उन पर पड़ा होगा। तभी हमें कन्नड के दास संप्रदाय के भक्तों के पदों पर अन्नमाचार्य के पदों की छाप मिलती है। उसी तरह वल्लभाचार्य की प्रेरणा से उत्तर भारत में जो कृष्ण साहित्य प्रसारित हुआ इस पर भी अन्नमाचार्य के पदों का प्रभाव परिलक्षित होता है। शायद उनके संस्कृत पदों से सूरदास जैसे कवि परिचित हुए होंगे।

अन्नमाचार्य के पदों से तेलुगु वैष्णव साहित्य अत्यंत समृद्ध हो पाया। पदकविता को मान्यता मिली। उन्होंने संस्कृत और तेलुगु में श्री वेंकटेश्वर की सेवा में शृंगार व अध्यात्म के बत्तीस हजार पदों को रचकर अंकित किया। फिर संस्कृत में संकीर्तन लक्षण लिखकर संकीर्तनाचार्य कहलाये। रामायण द्विपद, शृंगार मंजरी, वेंकटेश्वर शतक जैसे और कई काव्यों का भी निर्माण किया। ये जन्म से नंदवरीक स्मार्त ब्राह्मण थे। लेकिन वैष्णव दीक्षा लेकर वेंकटेश्वर के अनन्य

भक्तों में एक बने। इससे उस जमाने के वैष्णव धर्म प्रचार का भी अंदाज मिल सकता है। अहोबल मठ के आचार्य श्रीशठगोप यतीन्द्र ने ऐसे कितने ही लोगों को तब वैष्णव दीक्षा दी। अन्नमाचार्य की संतति ने भी उनके दिखाये मार्ग पर चलकर वैष्णव धर्म व भक्ति के प्रचार में खूब हाथ बंटाया। इन लोगों की रचनाओं से वेंकटेश्वर की ख्याति ही नहीं, तेलुगु साहित्य का विभव भी बढ़ा है। कहते हैं कि अन्नमाचार्य ने सुप्रभातम तथा वेंकटेश्वर माहात्म्य के संकलन कार्य में भी भाग लिया। तिरुवेंकट माहात्म्य नामक और एक काव्य का संकलन कर्ता श्री परसिद्धि वेंकटत्तूर अय्यवार बताया गया है। अन्नमाचार्य की पत्नी तिम्मक्का बनाम् तिरुमलांबा ने सुभद्रा परिणय काव्य रचकर तेलुगु की प्रथम कवयित्री होने का यश पाया।

कृष्णदेवराय का जमाना तिरुमलै तिरुपति के इतिहास में स्वर्णयुग माना जाता है। बहुत-सी बातों में उसका यह नाम सार्थक है। मंदिर की धनसंपत्ति में उसकी ख्याति में, उसके प्रभाव में और उसके कारण से स्थानिक धार्मिक व सामाजिक जीवन में कितनी ही उन्नति तब नजर आयी। साहित्यिक क्षेत्र में भी मंदिर का प्रभाव प्रचुर मात्रा में दीखा। राजनीति और धर्म में एक तरह का सामंजस्य दिखाई दिया। राजा लोग न किसी भी धार्मिक संप्रदाय के विशेष पक्षपाती दीखते। राजाद्योगी भी उसी नीति को अपना कर राजा के प्रीतिपात्र बनना चाहते। राजा का वैयक्तिक धर्म या विश्वास अंतःसलिला धरती की तरह गंभीर रहकर पारिवारिक सीमा से बाहर नहीं जाता। श्रीकृष्णदेवराय खुद वैष्णव थे। गोदा कल्याण कथा को लेकर उन्होंने 'आमुक्तमाल्यदा' काव्य की रचना की। अपने राज्य काल में सात अथवा आठ बार तिरुमलै की यात्री की और हर बार स्वामी को धन, कनक, वस्तु, वाहन, अंबर आभरणों से सजाया। गांव के गांव दान में दिये। विमान को सुवर्णरंजित किया। नित्योत्सवों व विशेष उत्सवों की संख्या बढ़ाई। फिर भी यह कहना पड़ता है उनकी यह श्रद्धा एकदेश वर्तिनी थी। तिरुपति के मंदिरों की ओर उनकी दृष्टि नहीं गयी। तिरुमलै व तिरुपति के स्थानत्तार, आचार्य पुरुष, धार्मिक नेता, पंडित, कवि आदि राजा के प्रीतिपात्र नहीं बन सके। स्थानिक मंदिरों, मठों, सत्रों आदि को राजा की ओर से कुछ नहीं मिला। मंदिर के कार्यकर्ता लोगों को राजा के वितरण में कोई भाग नहीं मिला। यों कहें कि राजा इन सबसे दूर रहे। स्थानिक लोगों या मामलों से अपने को यथासंभव अलग रखा। यह उनकी राजनीति थी। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे यहां के न्याय निर्वहण से चूक गये। अपराधी अर्चकों को दंड देकर, उनकी जमीन व जायदाद जब्त करके, राजा ने उनके निवासस्थल को व्यासरायजी के मठ के लिए दान दिया। राजानुजकूट जैसे स्थानिक संस्थाओं को

उपेक्षित करके, उनमें से न किसी एक के प्रति विशेष आदर या औदार्य दिखाकर, राजा ने अपनी ओर से ऐसी संस्था या धर्मशाला खुलवाई। राजोद्योगियों में कितने ही लोगों ने इसी आदर्श का पालन किया।

कृष्णदेवराय जब कभी यहाँ आये तब अपने इष्ट पुरोहित रंगदीक्षित और शिवदीक्षित को साथ लेते आये। उनके साथ राजा के निजी कर्मचारी ऊडिग बागुरि मल्लरसु, रायसं कोंडमरसय्य, शिल्पी श्रीपति, कार्यकारी जन और रनिवास भी आया करते थे। राजा के सभी दानशासन लेख राजकर्मचारियों से ही लिखवाये जाते थे। तभी राजा के निजी दानलेखों में जो प्रशस्तियाँ देखने को मिलतीं वे औरों के लेखों में, जो स्थानस्तार लोगों से लिखवाये, नहीं दीखतीं। राजा के पुण्यलाभ के लिए दिये गये दान-धर्मों के लेखों में भी यही व्यत्यास दीखता है। जो हो, राजा कृष्णराय के जमाने में मंदिर की सुवर्णसंपदा खूब बढ़ी। राजा ने विभिन्न समयों में यहाँ पधार कर स्वामी को कितने ही अभूषण दिये। उनमें मुख्य मुख्य आभूषण हैं नवरत्न किरीट, त्रिसर कंठमाला, वडुकर वज्रभूषा, रत्न खचित खड्ग, कटारियाँ और म्यान, नवरत्नमय भुजकीर्तियाँ, पदक शोभित मणिहार, सुवर्णसूत्र, पण्णसर हार, बाहुवलय, कंठमाला और पदक, सुवणपट्ट और पीतांबर, शिरस्त्राण, सुवर्णमय चामरदंड तथा उत्सवमूर्तियों को किरीट कटकांगद ताारहार। इनके अलवा स्वामी के लिए एक मकरतोरण प्रभावलि नाम से सुवर्णरत्नों से निर्मित कराया। मंदिर के आनंदनिलय को सुवर्णरंजित किया। हारती के उपयोग के लिए पच्चीस रजत स्थालियाँ दीं। राणी चिन्नादेवी और राणी तिरुमलदेवी ने भी सुवर्ण पात्रों, कंठमालाओं, रत्नपदकों, चक्रपदकों आदि का दान दिया। राजा और राणियों के दिये गाँवों की संख्या आठ से अधिक थी। राजा के चलाये उत्सवों में मुख्य है हर हफ्ते में शुक्रवार के दिन तिरुमंजन सेवा और हर दिन सबेरे का प्राक नैवेद्य।

राजा के कर्मचारियों में बीसों लोगों के नाम मंदिर के दान लेखों में मिलते हैं। उनमें अप्पपिल्लै, पेरिय ओबल नायकर, रामनायकर, सालुव तिम्मरसु, सालुव गोविंदय्या, रायसं कोंडमरसु, मन्नार पिल्लै, एल्लप्प नायकर, तिरुमलैनायकर, तम्मुनायकर, तिरुवेंकटय्या, कानलं एल्लप्पा, करणीकं बसवरसु, ऊडिगं एल्लप्पा, एक्कडी तिम्मय्या, अडैप्पं बाचप्प, त्र्यंबक देवर, मल्लरसु, लक्कनायक, सुबुद्धि रामदास जैसे लोग मुख्य हैं। इन लोगों के वितरण से मंदिर को दस ग्यारह गाँव और हजारों पणों का सुवर्ण और कितने ही नये उत्सवों के लिये धन-धान्य मिले। इनमें से कोई कोई तिरुपति के मंदिरों के लिये स्थानिक अर्चकों, आचार्यों, कर्मचारियों के लिए भी कुछ विशेष दान-पुण्य कर गये। अप्पपिल्लै ने गोविंद-

राज मंदिर में नीरालिमंटप का निर्माण कराया। ओबल नायक ने गरुडालवार सन्निधि को उन्नत बनाया। सालुव गोविंदय्य ने तिरुपति में गोपालकृष्ण का मंदिर बनवाया। कोंडमरसु ने अपनी ओर से एक सत्र खोला। मन्नार पिल्लं ने कितने ही मंटपोद्यानों का निर्माण कराके गोविंदराज के उत्सवों की श्रीवृद्धि की। एल्लप्प नायकर और तिरुमलं नायकर ने स्थानिकों पर विशेष प्रसन्नता दिखायी। कानलं एल्लप्प न कलतेर सत्र का निर्माण कराया। करणीकं बसवरसु ने मंदिर की जमीनों की सिंचाई का प्रबंध किया।

इन लोगों के अलावा स्थानिक आचार्य, जिय्यर, एकांगी, धनी मानी, पंडित कवि लोगों ने भी इस जमाने में मंदिर की श्रीवृद्धि में हाथ बंटाया। इनके कारण कितने ही नये मंटप, उद्यान, उत्सव, धर्मसत्र आदि का प्रारंभ हुआ। यात्री लोगों की सुविधा का ख्याल ज्यादा रखा गया। तिरुमलं और तिरुपति दोनों में एक ही तरह से राग, भोगों के साथ नित्य नये उत्सवों की धम मचती थी। अहोबल मठ, व्यासराय मठ, जैसे धर्मप्रचार के मठों के जरिए दूर दूर के यात्री यहाँ आकृष्ट होते थे। ताल्लपाक पेदतिरुमलाचार्य जैसे लोगों के अपने मठ भी खुले। श्रीवैष्णव, चात्ताद वैष्णव, माध्व वैष्णव, बडहलि वैष्णव जैसे सभी वैष्णव संप्रदायों को यहाँ आकर्षण दीखता था और आश्रय मिलता था। उत्सवों के साथ नैवेद्यों की बढ़ती हुई। हजारों लोगों को रोज प्रसाद के रूप में खाना उचित मिलता था। कार्यकर्ता लोगों को कैंकानिक के रूप में विशेष धन मिलता था। मंदिर की भू संपदा बढी और आमदनी को और बढ़ाने के सभी प्रयत्न देखने में आये। कुल मिला के इस जमाने में पच्चीस गांव मंदिर के अधीन हुए। नकद रूप में हजारों पण दान में मिले। मंदिर के कार्यकर्ताओं को खासकर, निर्वाह, वर्ग, तिरुप्पाणि भंडारत्तार जैसों को विशेष रूप से आय मिलने लगी। वैष्णव लोगों के प्रयत्न से प्रबंध पठन जैसे संप्रदायों की नींव अब गहरी पडी। मंदिरों में परस्पर संबंध भी स्थापित हुआ।

कृष्णराय का जमाना इस तरह सुवर्ण युग तो बना, किंतु कुछ बातों में राजा की नीति आश्चर्यजनक तो लगती है। तिरुमलं के स्वामी को उसने कनकाभिषेक तो किया, लेकिन तिरुपति की ओर आँख उठाकर देखा भी नहीं। स्थानिक लोगों में से किसी पर उनका विश्वास नहीं हुआ। किसी भी आचार्य का उसने आदर नहीं किया। कविपंडितों का कल्पवृक्ष रहकर भी तिरुमलं तिरुपति के कवि पंडितों का परिचय उसने नहीं पाया। ताल्लपाक वंशी कवियों को राजाश्रय की बात दूर, राजा से मानों एक तरह का मनमुटाव हुआ। उनका गांव राजा से औरों को दिया गया। इसी तरह व्यासराय मठ को भी अर्चकों की जमीन दी गयी। दक्षिण में कितने ही मंदिरों तथा हंपी के मंदिरों के निर्माण में विशेष रुचि

दिखाये हुए श्रीकृष्णराय ने न जाने क्यों तिरुमलै तिरुपति के मंदिरों की शिल्पवृद्धि की ओर ध्यान नहीं दिया। हाँ, मंदिर में आज तक उनकी दो राणियों सहित कांस्य मूर्तियाँ दर्शनीय होती हैं।

अच्युतरायपुरम

अच्युतराय महाराजा ने कृष्णदेवराय के दिखाये मार्ग पर चलते हुए भी वैष्णव धर्म के प्रति उनकी अपेक्षा अधिक आस्था दिखायी। लेकिन स्थानिक अर्थात् तिरुपति के मंदिरों के प्रति वह भी उपेक्षा ही दिखाते आये। नहीं, उन्होंने अपनी ओर से, अपने नाम पर, यहाँ एक गाँव बसाया जिसमें एक नया विष्णु मंदिर भी खड़ा किया। तिरुमलै में भी उन्होंने स्वामी की पुष्करिणी की उपेक्षा करके अपने नाम पर एक नयी पुष्करिणी खुदवायी, जिसके किनारे उनके आश्रित व अनुयायी लोगों ने कितने ही मंटपों व उद्यानों का निर्माण कराया। अच्युतराय का राज्याभिषेक तिरुमलै में स्वामी के सन्निधान में उनके दिव्य शंख की वारि धारा से १५२९ ई.में, मनाया गया। फिर १५३३ ई.में उनके स्वीय हस्तों से स्वामी का सहस्रनामार्चन निभाया गया। १५३५ ई.में लक्ष्मी देवी की एक प्रतिमा बनवा के उसका धूमधाम से उत्सव मनाया गया। राजा अपने अन्यान्य बिरुद नामों के साथ स्वामी नाम से भी व्यवहृत होने लगा और दान शासनों में 'स्वामी अच्युतराय' करके उल्लिखित करने लगा। कपिलेश्वर स्वामी की पुष्करिणी का नवनिर्माण कराके राजा ने उसको तिरुवेंगड मुडयांन का दिव्य तीर्थ और चक्करत्ताल्वार अथवा सुदर्शन तीर्थ नाम दिया। मंदिर की देवदासियों का गौरव बढ़ाकर, उन्हें तिरुवीधि कैंकर्य से मुक्त करके सन्निधि सेवा के विशेष सम्मान का पात्र बनाया। थोड़े में कहें तो अच्युतराय ने तिरुमलै तिरुपति की मानों काया पलट करके उसके इतिहास में एक नया पृष्ठ खोला। तिरुमलै मंदिर में अब भी अच्युतराय और उनकी राणी वरदाजी अम्मन की मूर्तियाँ विद्यमान हैं।

अच्युतराय के निर्माण कार्यों में सबसे पहले उल्लेखनीय बात है, आल्वार तीर्थ का नवनिर्माण। यहाँ उन्होंने पुष्करिणी की सीढ़ियां बनवाकर घेरे में एक सुंदरसंध्यावंदन मंटप बनवाया। बाद में इसी तीर्थ के समीप में कोत्तूर गाँव की जमीन हासिल करके उन्होंने वहाँ अपने नाम पर अच्युतरायपुरम नाम का गाँव बसाया। एक सौ ब्राह्मणों को वहाँ घर-बार दिया। गाँव में अच्युत पेरुमाल मंदिर नाम का एक भव्य मंदिर का निर्माण भी कराया। दुर्भाग्य से आज न तो वह गाँव मौजूद है न वह मंदिर। हाँ, उस मंदिर का एक शिथिल गोपुरावशेष अब भी साक्षिरूप में उक्त स्थान पर खड़ा है। अच्युतराय का तीसरा निर्माण कार्य तिरुमलै में अच्युतराय कोनेरु नामक पुष्करिणी का है।

उस पुष्करिणी के किनारे पर राजा के आश्रित व अनुयायी लोगों ने छे मंटप बनवाये। आसपास में कई उद्यान बने। श्रीवेंकटेश्वरस्वामी को वहां आना जाना पड़ता था। काल गति ने आज उक्त पुष्करिणी का मंटपों और उद्यानों सहित नष्ट कर दिया।

मंदिर के उत्सवों में भी अच्युतराय ने बढ़ती की। तिरुमल में लक्ष्मी की मूर्ति नहीं है। फिर भी उन्होंने उसकी एक प्रतिमा बनवाकर लक्ष्मीदेवी महोत्सव नाम का एक बड़ा उत्सव मनवाया। उक्त अवसर पर कितना ही द्रव्य खर्च किया और श्रीराम परिवार की मूर्तियों का भी पुनर्वसु नक्षत्र के दिन तिरुवीथि उत्सव मनाने का प्रबंध किया। कृष्णराय की तरह अच्युतराय ने भी वेंकटेश्वरस्वामी को अनेकानेक अभूषणों से सुसज्जित किया। ऐसे आभरणों में दो बड़े बड़े कंठहार मुक्तामाला, कंकण व केयूर, नवरत्नमय शिरोवेष्टन, सोने व रत्नों से शोभित शिखराभरण आदि बड़े कीमती हैं। कृष्णराय की तरह अच्युतराय ने भी स्वामी का कनकाभिषेक रचाया। अच्युतराय की पत्नी राणी वरदा जी के एक लेख से मालूम पड़ता है कि कुल मिलाकर राजा की ओर से मंदिर को करीब एक हजार रेखा पोन की आय के छे ग्राम दान में मिले।

देवदासियां

अच्युतराय ने मुद्दुकुप्पाई नामक देवदासी को विशेषरूप से नियुक्त करके हंपी से तिरुमल भेजा। इस देवदासी के मां-बाप भी कृष्णराय के जमाने में तिरुमल की यात्रा कर गये। तब उन्होंने कुछ दान धर्म और उत्सव कार्य भी चलाये। अच्युतराय के समय में उनकी बेटी यहां सदा के लिए स्वामी के सन्निधान में रहकर उनकी सेवाओं में भाग लेने भेजी गयी। सेवा के बदले में उसे मंदिर से एक प्याला (तलिह) प्रसाद नियुक्त किया गया। भरतनाट्य के सुप्रसिद्ध कलावंतों का यह कुटुंब शायद प्रसाद को एक गौरव मानकर स्वीकार करते होंगे, क्योंकि एक प्याले प्रसाद का दाम उन दिनों में तीन चार आने ही होता था। जो हो अच्युतराय के समय में ऐसी और कई देवदासियां भी यहां रहती थीं। वे वैष्णव धर्म में दीक्षित भी होती थीं। समय समय पर उनकी ओर से भी मंदिर को दान धर्म और उत्सव कार्यों के लिए धन मिलता था।

इस संदर्भ में यह जान लेना अच्छा है कि इस मंदिर के इतिहास में शुरू से, खासकर १३ वीं सदी से देवदासियों की सेवाओं का उल्लेख मिलता रहा। पहले की देवदासियों में वेंकटवल्ली, जक्कुल कन्नाई, वालंडी, कुप्पाई, गोविंदसानी, चिक्काई, पेरुच्चि, बेज्जी, आदि ने अपने दान धर्मों के लिए मशहूर हुई। उपरोक्त

मुद्दुकुप्पाई ने भी कई धार्मिक कार्य किये। इसी तरह अच्युतराय के जमाने व सदाशिवराय के जमाने में हनुमसानी, तिरुवेंकट मानिक्कम, लिंगिसानी आदि ने भी मंटपोद्यानों का निर्माण कराया। पहले की देवदासियां मंदिर के उत्सवों में भाग लेकर, स्वामी के तिरुवीथि उत्सवों में नाच गाने की सेवा करती थीं। बाद में उनको प्रसाद में भाग के साथ साथ मंदिर के अन्यान्य कार्य कर्ताओं के साथ कैंकानिकं वगैरह भी मिलने लगे। लेकिन मुद्दुकुप्पाई के आगमन के बाद उनकी सेवाएँ मंदिर के आवरण तक ही सीमित हुई मंदिर में उनका गौरव बढ़ गया। मंदिर के खर्च से भी कभी कभी उनके नाम पर विशेष सेवाओं की योजना होती थी। ऐसे अन्य दो उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ राजा के स्वीय सेवक परिवारों में से अड्ंप्पम पद्मम्मा, रुक्मिणी और आरवीटि लक्ष्मम्मा के नाम पर मंदिर के श्रीभंडार के खर्च पर उद्यान आदि का निर्माण कराया गया।

अच्युतराय के आश्रितों व अनुयायियों में रामचंद्र दीक्षितार, विश्वनाथ नायक, कृष्णप्प नायक, बच्चरसय्या, रामभट्टर, इम्मडि एल्लप्प उडयर, सलाक राजु सिंगराजु बच्चप्प, पेरियतिम्मप्प, चिन्न रामप्प, दलवाइ तिम्मरसु, लेपाक्षि वीरप्प, अंगराज नागप्प, आदि ने मंटपोद्यान आदि का निर्माण कराके, ब्रह्मोत्सव जैसे विशेष उत्सवों की आयोजना करके तिरुमलै मंदिर की श्रीवृद्धि में हाथ बंटाया। नरसनायक वीथि में और अच्युतपुष्करिणी के किनारे उन लोगों के बनाये कई मंटप थे। आज इनमें से एकाध भी मुश्किल से पाया जाता है। उपरोक्त सभी सज्जनों ने कुछ विशेष उत्सवों और प्रसादों का प्रबंध भी किया। हर एक ने पंद्रह हजार पणों का दान देकर रोज तीन तिरुप्पोणकम प्रसाद का नैवेद्य चढाया। शायद एक तिरुप्पोणकम के लिए पांच हजार पणों का दाम नियत रहा था।

उन दिनों के अन्य दाताओं में ताल्लपाक पेरतिरुमलाचार्य का नाम अग्रगण्य है। इन्होंने तिरुमलै मंदिर को करीब १३ गांव दान में दिये। आल्वार तीर्थ में, लक्ष्मीनारायण मंदिर का निर्माण कराया। तिरुमलै में स्वामी की पुष्करिणी का नवनिर्माण कराके उसे नवीन सोपानपंक्ति से शोभित किया। वराहस्वामी के आलय को प्राकार गोपुरों से सुसज्जित किया। तिरुमलै मंदिर में संकीर्तन भंडार का निर्माण कराके उसमें अपने तथा अपने पिता के संकीर्तनों को ताम्रपत्रों पर लिखवाके सुरक्षित रखवाया। आल्वार तीर्थ के पासवाले नम्मालवार मंदिर में प्रबंधोत्सव मनवाया। तिरुमलै मंदिर में अलमेलमंगा सहित श्रीवेंकटेश्वर का कल्याण रचाया और शुक्रवार तिरुमंजन सेवा की शोभा बढ़ाई। इनका गांव चंद्रगिरि के पास का मंगापुर है। इनके पुत्र ने वहां के वेंकटेश्वर मंदिर का इन्होंने जीर्णोद्धार कराया। सालुव तिम्मरसु तथा गोविंदय्या के प्रसाद भागों को खरीद

कर वे तिरुमले में आ बस गये। यहां उनका एक मठ चलता था। वेदमार्ग-प्रतिष्ठापनाचार्य, रामानुज सिद्धांत प्रवर्तक जैसे बिरदों को धर कर ये यहां के चातात्र वैष्णवों को दीक्षा भी दिया करते थे। अच्युतराय से इनकी दोस्ती बनती थी। अतः उनके धार्मिक कार्यों में भी ये उत्साह से भाग लेकर अपना अनुमोदन व सहयोग दिया करते थे।

दान-धर्म और प्रसाद की वृद्धि

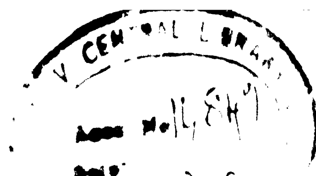
इस संदर्भ में यहां जान लेने लायक बात यह है कि उस जमाने में प्रसाद का मूल्य जरा बढ़ गया। पहले से ज्यादा प्रसाद बनने लगा। उसमें बहुत सा भाग चंद दिन ताजा ठहरने लायक था। साथ साथ भीखन, सुपारी, कर्पूर जैसी चीजों का भी जब स्वामी को नैवेद्य चढ़ाया जाता था, तब विशेष आकर्षण रहता था। विभिन्न मठों के आचार्य व अर्चक लोग इनको मन माने दाम पर बेचते थे। कभी कभी अपने यहां आनेवाले यात्री व शिष्य वर्ग के लोगों को देकर बदले में अपना गौरव व आकर्षण बढ़ा लेते थे। मामूली प्रसाद भी विक्रय के लिए सालीना नीलाम पर बेचा जाता था। प्रसादक्करार नाम के लोग इनको नीलाम में खरीदकर यात्रियों को बेचते थे। यह सब दाता को मिलनेवाले भाग में से ही होता था। बाकी भाग वर्ग, १२ निर्वाह, २ प्रबंध पाठक, नंबिमार वगैरह को मिलता था। कहने की जरूरत नहीं कि वे लोग भी अपने हिस्से को बेच डालते थे। जो हो अब स्थानत्तार, तिरुप्पाणि भंडारत्तार, एम्बरु-मानडियार जैसे लोगों को इसमें कम भाग मिलता था।

आचार्य-पुरुष, स्थानिक और व्यापारी लोग भी अपनी शक्ति के अनुसार दान-धर्म किया करते थे। इन लोगों ने तिरुपति के मंदिरों की भी श्रीवृद्धि में हाथ बंटाया। राजा की ओर से तिरुपति के मंदिरों को कुछ नहीं मिला। यही नहीं अच्युतराय की नीति भी स्थानिक वैष्णवों को अच्छी नहीं लगी। शायद यही कारण था, उनके बनाये अच्युतराय कोनेरु अच्युतरायपुरम् और अच्युतपेरुमाल मंदिर का अब नामोनिशान न रह सका। फिर भी राजा ने स्थानिकों के मामलों में कभी कोई हस्तक्षेप नहीं किया। यही नहीं, एक अभिलेख से यह भी मालूम होता है कि स्थानिक व्यापारी लोगों की समिति अपनी स्वेच्छा से व्यापार के जो नियम बनाती थी उनका पालन वह खूब करती थी। उक्त अभिलेख में यह बताया गया है; उस दिन से मोटी तरह के कपड़े का निर्माण मुसलमान जुलाहों को ही छोड़ दिया जाय और जो आदमी इस नियम के खिलाफ चलता है उससे व्यापारियों की समिति कुछ जुरमाना वसूल करके स्वामी को दिलवाये।

उस जमाने के अभिलेखों में ग्राम दान के वक्त उस गांव की आय भी नमोद करते थे। पहले पैसा देकर सिंचाई का कार्य करवाते थे। बाद में गांवों की आय को कुछ निश्चित कार्यों के लिए अलग रखते थे। अब गांव को शाश्वत रूप से मंदिर के अधीन में रखते थे और उसकी आय का भी रेखापोन नामक नि॰कों में स्पष्ट उल्लेख करते थे। अच्युतराय, राणी वरदाजी अम्मा, आश्रित राज परिवार के लोगों, स्थानिकों अन्य दाताओं के जरिए तब ३९ गांवों और ४०२० कुली की जमीन का दान मिला।

साहित्य क्षेत्र में भी अच्युतराय के जमाने में तिरुमले तिरुपति की ख्याति ज्यादा बढ़ी। ताल्लपाक अन्नमाचार्य के पुत्र पेद तिरुमलाचारी ने अपने पिता के दिखाये मार्ग पर चलकर कितने ही संकीर्तनों और अन्य ग्रंथों की रचना की। संकुसाल नरसिंह कवि ने कविकर्णरसायन में वेंकटेश्वरस्वामी की प्रशंसा की। मुक्कुतिम्मन्ना ने पारिजातापहरण में और पिंगलि सूरना ने कलापूर्णोदय में तिरुमलाधीश की ख्याति गायी। श्रीकृष्णदेवराय ने अपनी आमुक्तमाल्यदा को वेंकटेश्वर के नाम अंकित किया। इसी तरह रायसं वेंकटपति ने लक्ष्मीविलास काव्य को और कूचिराजु एर्रना ने सकलनीतिकथानिदान को श्रीवेंकटेश्वर के नाम अंकित किया। तरिगोप्पुल मल्लना ने भी तिरुमलेश का यश गाया। और एक पूर्वकवि ने वेंकटाचल विलास नामक काव्य रचकर स्थल पुराण का प्रचार बढ़ाया। पेदतिरुमलाचारी की रचनाएँ बहुमुखी हैं। उन्होंने शृंगार व अध्यात्म-कीर्तनों के अलावा शृंगार दंडक, चक्रवालमंजरी शृंगारवृत्तशतक, श्रीवेंक-टेशोदाहरण, नीति सीस शतक, सुदर्शन, रगडा, रेफरकार निर्णय, आंध्रवेदांत द्विपदा, वेंकटेश्वर वचन, भगवदगीता वचन, सुप्रभातस्तव जैसे कितने ही ग्रंथ रचकर स्वामी के नाम अंकित किये। इनके आंध्रहरिवंश वचन जैसे काव्य अब नहीं मिलते।

सदाशिवराय का राज्याभिषेक अच्युतराय के अवसान काल में ही हुआ। उधर सलकं-वंशी लोग अच्युतराय के पुत्र वेंकटाद्री के पक्ष में और इधर आरवीटि वंशी लोग सदाशिवराय के पक्ष में रहकर गद्दी के लिए कुछ दिन लड़ते रहे, लेकिन अलिय रामराय के प्रयत्नों से अंत में सदाशिवराय का शासन कायम हो चुका। कहते हैं कि अलिय रामराय ने सदाशिवराय का अभिषेक पहले तिरुपति में कर दिया और बाद में शत्रुओं से लड़ने गया। जो हो १५४२ में सदाशिवराय का शासन आरंभ हुआ और सलकं तिम्मराज के बदले अलिय रामराय का राज्य के मामलों में प्रभाव दीखने लगा। योंतो सदाशिवराय तिरुमले की यात्रा सिर्फ १५५३ में की थी, लेकिन परोक्ष रूप में उनके नाम पर या उनके यशोलाभ के लिये तिरुमले तिरुपति में कितने ही दान पुण्य लगातार होते रहे।



खासकर यात्रियों की सुविधा की दृष्टि से सदाशिवराय का जमाना सब से अधिक प्रशंसनीय है। उसी तरह मंदिर के कुछ अवांछनीय संप्रदायों का अंत भी सदाशिवराज के शासन काल में ही हुआ। फिर नये उत्सव, नये मंदिरों का निर्माण वगैरह भी इसी काल में ज्यादा गुजरे।

नये निर्माण और नये संस्कार

हम पहले ही कह आये हैं कि प्रसाद की महत्ता जानकर कुछ लोग उसका अनुचित उपयोग करके अपनी स्वार्थपूर्ति कर लेने में उत्साह दिखाते थे। अच्युतराय के जमाने में प्रसादइकरार महामंडगल नाम के प्रसाद विक्रेताओं की संस्था प्रचलित हुई। उसके कारण से यात्रियों को मुफ्त में प्रसाद मिलना मुश्किल हो गया। दरअसल नैवेद्य में चढ़ाये हुए प्रसादों का पौने भाग निर्वाहकों स्थानत्तारों और वर्ग लोगों को मिलता था। दाता को मिलनेवाला चौथा भाग भी या तो उन्हीं लोगों को या ऐसे धर्मप्रचारकों अथवा मठाधिपतियों को मिलता था, जो अपनी ओर से इसका उपयोग करके इससे अनुचित लाभ उठाते थे। फल यह हुआ कि यात्री लोगों को खाना-पानी का कष्ट उठाना पड़ता था। सदाशिवराय के जमाने में यात्रियों की संख्या बढ़ गयी। फिर तिरुमलै की अपेक्षा तिरुपति के स्थानिक मंदिरों की तरक्की भी वांछनीय हुई, जो यात्रियों और दाताओं के विशेष आकर्षण या आदर से प्राप्त हो सकती थी। इन सभी समस्याओं का सदाशिवराय के शासन काल में एक तरह से हल हो पाया। आरवीडु कोंडराजु नामक एक धार्मिक ने तब तिरुपति में गोविंदराजस्वामी के मंदिर के उत्तर में नम्मालवार का एक मंदिर बनवाकर, वहां रामानुज-कूटम नामक एक अन्न सत्र खोल दिया। इस काम में राजा का शायद अनुमोदन भी था। सभी सोलह प्रांतो से कुछ विशेष आमदनी उक्त सत्र के लिये अलग कर दी गयी। आरवीटि रामराज ने भी इस काम में उत्साह दिखाया और तिरुमलै में ऐसा एक सत्र खोल दिया। इन सत्रों में रोज करीब १५०० यात्रियों का पकवानों सहित भोजन दिया जाता था। रामराज ने तिरुवेंकटमाहात्म्य का पठन जैसे विशेष उत्सव भी कराये और उनमें से किसी-किसी का फल राजा का यशोलाभ बताया गया। इतना होने पर भी इस जमाने में प्रसाद विक्रेताओं का नितांत अंत नहीं हो पाया। मंदिर के अभिलेखों से पता चलता है कि इस जमाने में कम से कम ११ व्यक्ति इस काम के लिए मशहूर थे। उन्होंने तिरुपति के मंदिरों में विशे आस्था दिखायी।

सदाशिवराय के जमाने में मंदिर की देवदासियों में से तिरुवेंकटमाणिक्यम एक वेश्या हुई जिसका प्रभाव इतना बढ़ गया कि उसे मंदिर की पालकी स्वीयो-

पयोग केलिए पुरस्कार में दी गयी। तिरुमलै और तिरुपति में हर रोज उसके नाम एक तलिगै प्रसाद अलग किया जाता था और तिरुपति में वह प्रसाद उसके घर भेजा जाता था। लिंगिसानी नामक उसकी एक बहन भी थी। इन दोनों ने अपनी ओर से भी कुछ दान-पुण्य किया लेकिन बाद में तिरुमलै मंदिर की सेवा में देवदासियों का प्रसंग नहीं मिलता। इसका श्रेय शायद राजा सदाशिव-राय को मिलता है।

फिर इस जमाने में तिरुपति में पांच-छे नवीन मंदिर निर्मित हुए। गोविंदराजस्वामी की उत्तरमाडवीथी में नम्मालवार के मंदिर के आस-पास एक गोविंदकृष्ण मंदिर और एक तिरुवेंकट गोपालकृष्ण मंदिर निर्मित हुए। सन्निधि वीथी में हनुमान मंदिर के समीप में विठलेश्वर मंदिर का निर्माण हुआ। जिय्यर मठम में तिरुवेंगडमुडयान की मूर्ति स्थापित हुई। आल्वार तीर्थ में लक्ष्मी-नारायण मंदिर और गोविंपुष्करिणी के किनारे सुदर्शन-आल्वार के मंदिर बने। ये दोनों ताल्लपाक पेरियतिरुमलय्यंगार के बनवाये मंदिर थे। तिरुपति के वैश्यों ने कोत्तपालेम में जनार्दन पेरुमाल का मंदिर बनवाया। इन सभी मंदिरों के कारण यात्रियों के आकर्षण केलिए विशेष उत्सवों की आयोजना भी होने लगी। इन में से कुछ मंदिरों को गोविंदराजस्वामी के मंदिर के रसोई घर से प्रसाद मिलता था। बाकी को अपने नित्य नैवेद्य आदि की अलग व्यवस्था थी।

इस जमाने में उत्सवों की संख्या भी बढ़ गयी। हर एक उत्सव अपने में पूर्ण और दिनों तक चलनेवाला होता था। फलत: कार्यकर्ता, अर्चक, स्तोत्र पाठक, पौराणिक, वेदपाठक, परिचारक आदि सभी को विशेष रूप से कैंकार्य जैसी आमदनी मिलती थी। इस जमाने के उत्सवों में विशेष उल्लेखनीय हैं— नित्योत्सव, वनभोजन, पल्लवोत्सव, फलोत्सव, कल्याणोत्सव, वैवाहिकोत्सव, मुक्कोटि, मारगली, वसंतोत्सव, ब्रह्मोत्सव, पुनुगुकापु उत्सव वगैरह।

अब के दाताओं में आरवीटिवंशी लोगों के साथ साथ मट्ल और मनमपोलिवंशी लोग बहुत मशहूर हुए। आरवीटि अलिय रामराय ने सब से अधिक दान-पुण्य किया। उनके भाई-बंधुओं ने भी ऐसे कामों में उत्साह दिखाया। पोटलपाटि तिम्मराजय्यन ने एक विशेष पंचामृत का नैवेद्य चढाया। पप्पुतिम्मय्यदेव महाराज ने अपने भाई के पुण्य-लाभ के लिए जनार्दनपेरुमाल कोयल को ग्रामदान दिया। विठलेश्वर महराज ने तीन गाँव देकर पल्लवोत्सव मनाया। मट्ल वरदराज ने विशेष उभयम उत्सवों का प्रबंध किया। मनमपोलि श्रीरंगराज ने पांच तिरुप्पोनकम का नैवेद्य चढाया। श्रीपति ओबलेश्वर राज ने पनीर का नैवेद्य चढाया। तिरुवडि राजा ने गोविंदराजस्वामी को भी

२ तिरुप्पोनकम प्रसाद चढ़ाया। पेड्लिकाड्कु म्म्मराज ने वसंतोत्सव मनाया। नंद्याल नारप्पराज ने द्वारपालकों की अर्चा करायी। तिरुमलराज ने तिरुमलराय मंटपम का निर्माण करा के उस में ऊंजल उत्सव मनाया। आरवीडुकोनेरिराज-कोंडराज ने एक बड़ा अन्न सत्र खोला। इसके निर्वाह के लिए बारह गांव दान में दिये गये और सोलह प्रांतों से विशेष आमदनी अलग कर दी गयी। अलिय रामराज ने चार गांव दान में दिये। राजा के सेनाध्यक्षों से भी कुछ विशेष दान मिले। अखिलंगुनायकर मूर्तिनायकर, कृष्णप्पनायकर, सेव्वुनायकर सेव्वप्पनायकर, सूरप्पनायकर जैसे लोगों ने वेंकटेश्वर के भोग भागों में अधिक तरक्की की। आरणी तिरुमलनायकर ने और कुछ लोगों की तरह कुडिवरम स्वत्वों को अपने लिए रखकर मंदिर को अलिमलंपाडु प्रांतको दान में दिया। रायसम हरियप्पा, वेंकटाद्रि, कोणप्पा जैसे राजोद्योगी लोगों ने धनकनकवस्तुवाहनों से और विशेष उत्सवों से श्रीवेंकटेश्वर की सेवा की। करणीकम अप्पलय्यर और बसवरसु ने पल्लवोत्सव जैसे विशेषोत्सओं की आयोजना की।

इस जमाने के अर्चकों में वेंकटत्तूर अय्यवार ने मंदिर का जमीना की सिंचाई का प्रबंध करके तिरुमले तथा तिरुपति के गोविंदराज और रघुनाथ मंदिरों में कुछ विशेष उत्सव मनवाये। कोयिल केल्वी जिय्यर ने भी ऐसे कुछ विशेष उत्सव मनवाये। आचार्य पुरुषों में मोट्टै तिरुमलनंबि श्रीनिवास अय्यगार बड़े दाता हुए। इन्हों ने फलोत्सव, अध्ययनोत्सव, नीराट्टम जैसे विशेष उत्सवों के लिए तिरुमले में, उसी तरह के उत्सवों के लिए तिरुपति में भी ज्यादा खर्च किया। आकार तीर्थ की चौथी गुफा में श्रीवेंकटेश्वर की स्थापना कराई। गोविंदराज का ब्रह्मोत्सव मनवाया। कुमार तातय्यंगार ने भी तिरुमले और तिरुपति के मंदिरों में विशेष नैवेद्यों और उत्सओं का प्रबंध किया। ताल्लपाक तिरुमलय्यंगार और उनके भाई बंधुओं ने कई नये मंदिरों, गोपुरप्राकारों, तथा मंटपों का निर्माण कराया। अध्ययनोत्सव, ब्रह्मोत्सव, कल्याणोत्सव, वार्षिकोत्सव, उभयम, तिरुमंजनम जैसे विशेष उत्सव मनवाये, संकीर्तन भंडार का निर्माण किया, स्थानत्तारों से मिलकर वनभोजनोत्सव का प्रबंध किया। कुल मिलाकर, समय-समय पर तेरह गांव दान में दिये। वराहस्वामी के मंदिर का नवनिर्माण किया। गोविंदराज का आखेटोत्सव मनवाया। प्रबंधोत्सव के लिए अधिक धन दिया।

मंदिर के लेखकों ने भी ऐसे उत्सवों में उत्साह दिखाया। इन्हों ने तिरुमले और तिरुपति के अनेक मंदिरों की तरक्की में हाथ बंटाया। देवदासियों में सेल्लि, हनुमसानी, लिंगिसानी, माणिक्यम, वेंगु, नागसानी, सेव्वुसानी आदि ने विशेष नैवेद्यों का प्रबंध किया। मंदिर के द्वार-रक्षकों ने भी ब्रह्मोत्सव मनवाया।

विनयकर्ता, प्रसादविक्रेता, आस्थानजोषी, भट्ट जैसे लोगों ने भी भू कनक वस्तु-वाहनोंका दान किया। तिरुपति के व्यापारी लोगों ने गोविंदराजस्वामी के साथ साथ विठलेश्वर और जनार्दनस्वामी के विशेषोत्सव का प्रबंध किया। तोलप्पसेट्टी ने वराहस्वामी का उत्सव मनाया। नारायणसेट्टी ने कासुक्कडं का निर्वाह किया। इन दिनों में भी हुंडी में डालने के लिए वट्टिकासु सिक्कों का चलन विद्यमान था। अप्पायसेट्टी ने ब्राह्मण-भोजन का प्रबंध किया। गोविंदो नामक किसी औरत ने तिरुमले में मंटपोद्यानवन का निर्माण किया। एल्लया और नरसय्या नामक ग्वालों ने गोविंदराजस्वामी के उत्सवों में उत्साह दिखाया। इनके अलावा दफकार रामप्पय्या, गंगुरेड्डी, चेल्लम्मा, आदि स्थानिकों ने भी ग्राम, भू कनक, वस्तुवाहनों का दान करके उत्सवों में बढ़ती की।

इस तरह सदाशिवराय का जमाना दान पुण्यों के लिए अपनी सानी नहीं रखता चला। राजा के स्वीय परिवारों के जरिए मंदिरों को तब करीब २८ गांव, जिनकी आमदनी एक लाख पच्चीस हजार से अधिक थी, दान में मिले। अधिकारी और अन्यदाताओं से इक्कीस गांव, जिनकी अमदनी करीब एक लाख थी, दान में मिले। नकद रूप में एक लाख चालीस हजार तक विशेष उत्सवों के लिए धन मिला। उन दिनों में हुंडी में रखने के लिए कासु चलता था। व्यवहार में पनम, रेखापोन (10 panams) वराह नामक सिक्के चालू थे।

साम्राज्य के पतन और अराजकता के दिन

यह तो एक ऐतिहासिक सत्य है कि सदाशिवराय तो नाममात्र के लिए राजा था, लेकिन राज्य की सारी व्यवस्था अलियरामराय के हाथ चलती थी। सन १५६५ में तल्लिकोट युद्ध में रामराय तो मर गया लेकिन सदाशिवराय की बात क्या हुई हमें मालूम नहीं। इस युद्ध के बाद कई दिनों तक राज्य में अव्यवस्था रही, किसी तरह तिरुमलराय ने पेनुगोंडा में अपनी गद्दी कायम की और अपने बेटों को पेनुगोंडा, चंद्रगिरि जैसी जगहों में राजप्रतिनिधि बनवाया। इस तरह वेंकटपतिराज चंद्रगिरि में राजप्रतिनिधि के रूप में तब राज करते थे। लेकिन तिरुपति के दान लेखों में सन १५८३ तक किसी भी राजा का नाम नहीं मिलता। बीच के एक शासन में यह उल्लेख मिलता है कि किसी आरवीटि वंशी की आज्ञा से अच्युतराय महाराज का प्रसाद भाग अहलालु और करुणाकरय्या नामक दो व्यक्तियों को दिया गया। इसी तरह और एक लेख में, जहां मंदिर की जमीनों की सिंचाई का प्रबंध किया गया, वहां भी तिरुमले के श्रीवैष्णवों की आज्ञा बताई गयी, न कि किसी राजा की। जो हो सन १५८३ के लेख में श्रीरंगरायमहाराज का नाम स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। दानकर्ता तिल्लप्पनायकर विजयनगर में

रहते थे। शायद उनका स्वग्राम तिरुपति हुआ हो। क्योंकि तिरुपति में उनका एक नंदनवन था और उसमें एक मंटप भी बना था। उपर्युक्त लेख में चंद्रगिरि प्रांत के कुछ गाँवों की सिंचाई का प्रबंध बताया गया। यह आज्ञा की गयी कि पुट्टी हर चार पणम के भाव पर ३४ रेखपोन के ८५ पुट्टियाँ धान अधिक मिलेगा। इस तरह इस लेख से हमें दो खास बातें मालूम होती हैं। (१) तल्लिकोट युद्ध के बाद में भी विजयनगर में कुछ उद्योगी, व्यापारी और राजकर्मचारी लोग रहते थे। (२) उन दिनों में पुट्टी धान का दाम चार पणम था।

आरवीटि राजा लोगों में से रामराज और तिरुमलराजाओं को छोड़कर बाकी राजाओं के जरिए मंदिर को दानधर्मों के रूप में शायद ही कुछ मिल सका। वेंकटपतिराय का राज्याभिषेक बहुश: तिरुमलै में हुआ हो। वह चंद्रगिरि में राज करता था। लेकिन राज्य में शांति नहीं थी। पैसे की भी तंगी थी। शायद इसीलिए ही राजा ने तिरुमलै श्रीभंडार का धन खर्च करके देश में शांतिस्थापन का प्रयत्न किया था। इस काम में उनके गुरु कोयलकेल्वीजिय्यर जैसों का भी अनुमोदन मिला था। तभी उसने वेंकटेशकासु नाम का एक नया सिक्का जारी किया जिस पर 'श्रीवेंकटेशायनम:' लिखा गया। इस समय के आचार्य पुरुषों में एट्टूर तिरुमलै कुमारताताचार्यर बड़े प्रसिद्ध थे। वे राजा के गुरु थे। उन्हों ने मंदिर को चार गाँव दान में दिये, कई नये उत्सव मनवाये, सिंचाई का प्रबंध किया और कहा जाता है कि आनंदविमान को सुवर्णरंजित करवाया। आज भी इनके वंशवाले कैसिक पुराण पढ़ते हैं।

इस जमाने में संपूर्ण ग्रामों का दान देने की प्रथा कम चलती थी। कुछ दानकर्ता दान किये हुए कुछ भाग अपनी स्वेच्छा के अनुसार प्रसाद नैवेद्य आदि चढ़ाने के लिए अलग रखते थे। तिरुमलै की अपेक्षा तिरुपति के मंदिरों को अधिक दान मिलने लगे। गोविंदपुष्करिणी के किनारे एक नया रघुनाथ मंटप भी बना। मंदिर ग्रामों में जब कभी सिंचाई का प्रबंध किया जाता था तब पहले के प्रसाद में से ही थोड़ा हिस्सा अलग करके नये दाता को दिया जाता था। कारण यही था कि उन दिनों में खेती-बाड़ी से मिलनेवाली आमदनी अनिश्चित थी। फिर भी तिरुपति और तिरुमलै के सत्र यथापूर्व चलते थे। ब्रह्मोत्सवों की संख्या बढ़ गयी। प्रसाद भी कम नहीं चढ़ता था। लेकिन वेंकटपतिराय द्वितीय के समय के एक दान लेख से मालूम पड़ता है कि उन दिनों में अनाज का दाम पहले से पचास फी सदी ज्यादा बढ़ गया।

सन १६२८ में मटल अनंतराज ने तिरुपति में कितने ही निर्माण कार्य-कराये। उनमें प्रसिद्ध हैं गोविंदराजमंदिर का प्रधान गोपुर, तिरुमलै पहाड़ी रास्ते

में श्रीपावमंडप, सोपनपंक्ति, ऊर्ध्व गोपुर, उन्नत केलीमंटप, आल्वारतीर्थ में और शोबावलकुवध में अन्नसत्र। उन्हों ने श्री वेंकटेश्वरस्वामी को सोने का घोडा, हाथी, सर्वभूपालवाहन और एक रत्नाढ्य मकुट दान में दिये। इन के दान स्वतंत्र रूप से किये गये। इन के लेखों में न राजा की प्रशस्ति मिलती है न स्थानत्तार की प्रशंसा। राजगद्दी भी सुनिश्चित अधिकारी के हाथ नहीं थी। अतः इस काल के लेखों में अकसर दो दो राजाओं के नाम मिलते हैं। कभी कभी राजा का नाम भी नहीं मिलता।

इन्हीं दिनों में तिरुपति में गोविंदराजमंदिर की दक्षिण माड वीथी में पेरियाल्वार का मंदिर बना। निर्माता प्रतिवादिभयंकर अन्नंगराचार्य ने वहाँ लक्ष्मीनारायण मूर्ति की भी प्रतिष्ठा की। नाथमुनि वीथी में नाथमुनि का मंदिर भी इसी समय बना। इस समय के लेखों से ये खास बातें मालूम होती हैं। (१) स्थानत्तार की संख्या १२ से ४ तक घट गयी। अब उस में एक नंबिमार, एक जिय्यर, एक सभैयार और एक स्थल करणम की ही जगह बची। २) दान लेखों आदि को तेलुगु में बनाने लगे। (३) जमीन को मापने के लिए करीब ४ गज की एक लकडी इस्तेमाल करते थे जिसका वर्गफल एक कुली जमीन माना जाता था। (४) पणम सब से अधिक चालू सिक्का था। इसका मूल्य प्रायः चार आने के समान रहता था। ऐसे दस पणों का एक रेखापोन होता था। ५ पणों का एक वाराह निष्क और करीब ८ पणोंका एक माडा होता था। वाराह, माड, रेखापोन और चक्करपोन (१० पणम) सोने के सिक्के थे।

ओरंगराय के जमाने के सन १६६५ के एक लेख से मालूम पडता है कि तब तक दक्षिण में हिंदू राज्य का अंत हो चुका था। देश में अंतः कलह, मुसलमानों के आक्रमण और विदेशी गोरे व्यापारियों के कूटयंत्र, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल, बाढ जैसे कई कारणों से प्रजा सुखी नहीं थी। मीरजुमला के हाथ कई मंदिरों की दुर्गति भी हुई। तिरुमलै मंदिर भी मुसलमानों के हाथ गया। मंदिर का श्रीभंडार अब राजा अथवा सुल्तान का स्वकीय धन माना जाने लगा। उसका खर्च भी कभी कभी युद्धों, रिश्वतों, और अपहरणों में होने लगा। फिर भी श्री वेंकटेश्वर में न राजा की भक्ति घटी न प्रजा का विश्वास कम हुआ। तत् कालीन साहित्य में देखें तो श्रीवेंकटेश्वर की प्रशंसा कितने ही ग्रंथों में मिलेगी। इसी जमाने में काकमानि मूर्ति कवि ने अपने 'राजवाहनविजय' नामक काव्य को वेंकटेश्वर के नाम अंकित किया। गणपवरपुवेंकटकवि ने 'प्रबंधराज विजय वेंकटविलास' नामक काव्य की रचना की। एर्रगुडिपाटि वेंकटकवि का 'विष्णु-माया विलास' टेकुमुल्ल रंगशायी का 'वाणीविलास' और रेवणूरि वेंकटाचार्य का 'श्रीपादरेणु माहात्म्य' इसी काल में रचकर वेंकटेश्वर के नाम अंकित हुए।

इस तरह हम देखते हैं कि इस जमाने में भी कविता, शिल्प, निर्माणकार्य, दान-पुण्य और धर्म के जरिए जो कुछ उन्नति वांछनीय थी वह विद्यमान होती रही। और भी हुई होगी लेकिन देशका राजनीतिक वातावरण इसका एकदम प्रतिकूल रहा। उस समय के अंग्रेज व फ्रेंच लोगों के रिकार्डों को देखने पर यह बात मालूम कर सकते हैं कि राजगद्दी के लिए राजपरिवार तथा सामंत नायक राजाओं के बीच अकसर लड़ाई, झगड़े, छल कपट, षड्यंत्र, कुतंत्र, मारकाट जैसी बातें आयेदिन की घटनाएं थीं। इसी समय मुसलमानों की चढ़ाइयां भी एक से एक जोरदार होती चलीं। देश में अकाल पड़ गया। व्यापार स्थगित हो गया। यात्रियों की सुविधाएं दूर हो गयीं। मंदिर को भी सन १६४६ में मीरजुमलाके हाथ में चलना पड़ा, यद्यपि वह फिर से सन १६५७ में चंद्रगिरि राजा के हाथ में आ गया।

सन १६६३ में नेकनामखान कर्नाटकप्रांत का नवाब बन गया और पांच सालों के अंदर सभी राजाओं को काबू में लाया। इसी समय श्रीरंगराय के हिन्दू राज्य का अंत भी हुआ होगा। तिरुमलै में एक अलग पत्थर पर लिखे हुए सन १६६५ के एक लेख से यह अनुमान किया जाता है कि श्रीरंगराय राज-काज और लड़ाई झगड़ों से विरत होकर भगवान की सदा सेवा में अपने को अर्पित कर चुके। यह लेख तेलुगु में है। मामूली यात्री की तरह यहां आकर राजा ने अपनी यात्रा का उल्लेख मात्र इस में किया। जो हो, विजयनगर राजाओं का जमाना इस मंदिर के इतिहास में सुवर्णयुग ही कहलायगा।

मुसल्मानी सत्ता

मुसलमानों का जमाना मंदिर के इतिहास में अनिश्चित व अस्तव्यस्त परि-स्थितियों का जमाना है। सन १६६८ तक इस प्रांत पर नेकनामखां का शासन स्थिर हो चुका। उसने अंग्रेजों को इस प्रांत का कौल दिया और उन्होंने किस्त बढ़ाई। सन १६७२ में मूसाखां नवाब बना तो उसने भी अंग्रेजों को फिर से कौल दिया। ये लोग किसी पर विश्वास नहीं करते। वे सालाना मामूल याने नजराना देकर गोलकोंडा के नवाब को खुश रखते थे। गोलकोंडा में तब अक्कन्ना और मादन्ना का मंत्रित्व चलता था। कभी कभी कर्नाटक नवाब का फरमाना गोलकोंडा में मान्य नहीं होता था। उधर बादशाह औरंगजेब की नीति भी इसी तरह की बनी। वह दक्षिण के मुस्लिम राज्यों का अंत करने के प्रयत्न में था। उसने देश का सिक्का पेगोडा भी बदल दिया। एक सौ पुराने पेगोडों के बदले १७० नये पेगोडे मिलने लगे। फलतः देश की आर्थिक दशा भी बिगड़ गयी। व्यापार को धक्का लगा। सन १६७३ के एक लेख से मालूम पड़ता

है कि व्यापार की तंगी के कारण काश वीरन्ना नामक एक व्यापारी के पास तीन साल का कपड़ा पड़ा रह गया। इन्हीं दिनों में इस प्रांत पर मरहठों की चढ़ाइयां भी होने लगीं। सन १६७७ में शिवाजी इस प्रांत पर से गुज़रे। १६८१ में अक्कन्ना तिरुपति में ठहरे। सन १६८४ में मरहठा सरदार दबीरशाह सामायिक उपद्रवों से देश तथा मंदिर की रक्षा करने आये। करीब पचीस साल के बाद फिर मंदिर के दान शासनों में अब एक नया अभिलेख देखने को मिला।

दबीरशाह के अभिलेख से मालूम पड़ता है कि तब तक मंदिर की स्थिति बहुत शोचनीय हो चुकी। कार्यकर्ताओं को पहले की तरह कैंकानिकै की बात दूर, रोज का प्रसाद भी पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता था। देश की अराजक परिस्थितियों ने मंदिर की भूसंपदा को अन्याक्रांत कर दिया। आर्थिक अव्यवस्था ने नकद में मिलनेवाले दान-धर्मों का अंत कर दिया। प्रांत की अनिश्चित सुरक्षा स्थिति ने यात्रियों को यहाँ आने से निरुत्साह किया। दबीरशाह ने मंदिर के नित्य नैवेद्य के लिए जो दान दिया उसके निर्वहण के लिए पैसे के बदले सोने की कंठी दी। यही उस जमाने में पैसे की जो तंगी थी उसका प्रमाण है। फिर, यह दान लेख तेलुगु में बना। इसमें न किसी भी राजा का उल्लेख हो पाया। प्रसाद भाग का बंटवारा भी पहले की तरह नहीं हुआ। कोयल केलिव जियर तथा उसके अनुयायी को अब पेद्दजियंगार और चिनजियंगार बतलाया गया। उत्तर पारुपत्यम नाम का एक नया अधिकार निर्वाचित हुआ। स्थानत्तार को अब स्थानालवारु कहा गया। आचार्यों को 'स्थल श्रीनिवासुलु' उपाधि दी गयी भानोजी पंतुलु का दान लेख भी इसी आदर्श पर लिखा मिलता है।

सन १७१: में तोडरमल यहाँ आये। उन्होंने यहाँ क्या किया, यह तो मालूम नहीं, लेकिन आज भी तिरुमलै मंदिर में उनकी, और उनकी पत्नी व माता की मूर्तियां देखने को मिलती हैं। शायद ये जिंजी किले पर जाते इस मंदिर की यात्रा कर गये हों। इसी तरह सन् १७४० में मरहठा नायक बाजी राव की मां और पत्नी ने भी तिरुमलै की यात्रा की थीं। तब आर्काट नवाब से मरहठों को मंदिर के श्रीभंडार का धन पचास हजार तक दिया गया। ऊपर से वकीलों को बीस हजार रिश्वत में दिये गये। दर असल उन दिनों में इस पर कोई भी राजसत्ता कायम नहीं थी। जिसकी लाठी उसकी भैंसवाली नीति चरितार्थ होती थी। कभी विदेशियों की तरफ़ से, कभी मुसलमानों की तरफ़ से और कभी स्वतंत्र रूप से मरहठों की सेनाएँ इस प्रांत पर से अकसर गुज़रती थीं। उनके सरदार या नायक श्रीवेंकटेश्वर के दर्शन तो अवश्य कर लेते थे, लेकिन औरों के हाथ ही क्यों न हो, मंदिर का धन तो वसूल कर कर ले जाते थे। बदले में उनके किये दान-धर्म ही मंदिर के कार्यकर्ताओं को संतुष्ट करने बचते थे।

उपरोक्त मरहठा सरदारों के अलावा राजा चंद्रसेन और राजा निबलिसिंह जैसों ने भी उन दिनों में तिरुमल की यात्रा की थी; लेकिन उनके किये दान-धर्मों का कोई पता नहीं चलता। हां, श्रीवेंकटेश्वर को 'बालाजी' नाम तो शायद इन्हीं दिनों मे दिया गया हो।

सन १७४५ में जब अंग्रेज-फ्रांसीसी लड़ाई शुरू हुई तब से मंदिर का इतिहास और भी बदल गया। स्थानिक पालेयगारों ने तरफदारी करके कभी इस ओर तो कभी उस ओर मदद करते, मंदिर के श्रीभंडार के विनियोग में भी काफी हस्ताक्षेप किया। किसी किसी ने इसे हड़पने का प्रयत्न भी किया। नवाब ने समय समय पर यहाँ की आमदनी को युद्धों व रिश्वतों में खर्च किया। इतिहास प्रसिद्ध आर्काट-लड़ाई में राबर्ट क्लाइव को तिरुमल के श्रीभंडार से दो लाख मिले। यहाँ जान लेने लायक बात तो यह है कि नवाब तो नाम मात्र के लिए शासक था। अधिकार विदेशी लोगों के हाथ गुजर रहा था। स्थानिक जमींदार व पालेगार मंदिर के धर्मरक्षकों की तरह बरतते थे, अवश्य, किंतु मौका मिलने पर वे यहाँ की संपत्ति का स्वार्थों के लिए भी उपयोग करते थे। सन १७४६ बोम्मराजुपालेम के पालयगार ने फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले के यहाँ मंदिर के आचार्यों, पुजारियों, कोशाधिकारियों और कार्यकर्ताओं के हाथ, शेषवस्त्र, परिवट्टू, शाल, सोने की तालवार जैसी बहुमूल्य वस्तुओं को भेंट में भिजवाया। अंगेजों को नवाब ने मंदिर को अधिकारी संपतिराव से ५० हजार पेगोडा दिल-वाये। मंदिर के कोशाधिकारी बुक्कन जो वेंकटगिरि में रहने लगे। मंदिर की आय बढाने केलिए तरह तरह के नये आर्जितम शुल्क वसूल किये जाने लगे। उत्सव समयों में जमा होनेवाला पैसा कभी कभी लूट-मार का कारण बनता था। किरायेदार अपने लिए अलग रूप से कानिकं वसूल करते थे। इसी जमाने में दाव खान, अब्दुल वहाब, मुहम्मद कमाल जैसों के आतंक भी बढ़ गये। तिरुपति में ही दो युद्ध गुजरे। एक में कमाल मारा गया। दूसरे में राघवाचारि मारा गया। और एक दफा मंदिर पर फ्रांसीसियों का अधिकार होगया। मरहठा सरदार बलवंतराव ने इसी समय तिरुपति की यात्रा की और पैसा वसूल किया। अंत में इन सब आतंकों को दूर करते सन १८०१ में अंग्रेजों ने प्रांत का पूरा पूरा अधिकार अपने हाथ में लिया और मंदिर की व्यवस्था को कुछ ठीक ठिकाने पर ला रखा।

अंग्रेजों का शासन

मंदिर निर्वहण के मामले में खूब जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से अंग्रेजों ने एक सवाल-जवाब पट्टी को जारी किया। बाद में कैंकर्य पट्टी जारी की।

फिर कूलकोड के अनुसार मंदिर की सेवाओं को सुनिश्चित रखवाया। पारुपत्तेदार से अमुलनामा लिखाया गया। मंदिर संबंधी झगडों को कोर्ट में पेश करके तय कर लेने का रिवाज कायम किया। मंदिर की भूसंपदा तब तक अन्याक्रांत हो चुकी। आमदनी उत्सव समयों में ज्यादा होती थी। सारी आय सरकार की निजी आमदनी मानी गयी। बदले म मंदिर के खर्च के लिए तसदीक ग्रंट नियत होगया। अंदाज से सालाना एक लाख रुपये जो मिलते थे उसमें से बीस हजार मात्र मंदिर के निर्वहण में खर्च होते थे। आर्जितम, हुंडी, तसदीक वगैरह आय के रूप में और सेवा, कैंकर्य, मिरासी, भोग उन्नीस बडेमंदिरों और १८ छोटे मंदिरों का निर्वहण खर्च के मद्दे दिखाये जाने लगे। बाद में सन १८४३ में अंग्रेजों ने मंदिर का सारा निर्वहण भार महंत सेवादास को सौंप दिया।

महंत का जमाना

बात तो यह है कि तिरुमलै-तिरुपति के बहुत से मंदिरों को अपने अपने अलग आय-व्यय के आधार थे। आर्जितम शुल्क ही नहीं, दूकानों का भाडा, जुलाहों का कर, भेंट वगैरह तो इनमें से कई मंदिरों को मिलते थे। तिरुमलै मंदिर से इनको कुछ विशेष उत्सवों के अवसर पर ही थोडा-बहुत विशिष्ट आमदनी मिलती थी। फिर भी इन सभी मंदिरों की गणना, निर्वहण के समय मूलमंदिर के साथ हो चुका। किंतु उनके लिए तसदीक के रूप में बहुत कम पैसा नियत किया गया। छोटे मंदिरों में बुग्गमठ का कृष्णमंदिर, राघवेंद्राचारि के घर के पासवाला संजीवरायमंदिर, रामचंद्र पुष्करिणी तीर का अगस्तेश्वर मंदिर, वेरिवीथि का तिरुकच्चिनंबि मंदिर और तातायगुंट गंगम्मा का मंदिर महंत को दिये मंदिरों में नहीं गिनाये गये। बाद में बाकी मंदिरों के तसदीक ग्रंट भी नियमित रूप से शायद वसूल नहीं हो पाये। महंतों ने आर्जितम शुल्क वगैरह को बढाकर, स्थानिक आवश्यकताओं के मद्देनजर और और मंदिरों के निर्वहण में उत्साह दिखाते, तिरुमलै मंदिर की ख्याति बढाने में दूर दूर तक प्रचारकों व प्रचार साधनों को काम में लाके, स्थल पुराण को समयोचित ढंग पर बदलकर लिखवाके, यात्रियों की सुविधाओं का यथोचित ख्याल रख, मंदिर के इतिहास में मानों एक नया पृष्ठ ही खोला। उनके पहले अंग्रेजों के अधिकार काल में ही, तिरुमलै मंदिर के उत्सवों में कुछ वैष्णवेतर उत्सवों को भी स्थान मिल गया। प्रमाण में सन १८१९ के एक लेख के अनुसार निम्नलिखित उत्सवों की तालिका पेश की जा सकती है। इस के अनुसार तब तिरुमलै में (१) आनिवर आस्थान (२) वरलक्ष्मीव्रत (३) श्रावण पौर्णमी (४) गोकुलाष्टमी (५) उगादि (६) विनायकचतुर्थी (७) अनंतचतुर्दशी (८) दीपावली (९) कैसिक द्वादशी (१०) पुष्करिणी तीरार्टम (११) कार्तिक दीपोत्सव (१२) चक्रतीर्थ में

आल्वार का अभिषेक (१३) धनुर्मास उत्सव (१४) अध्ययोत्सव (१५) प्रेम कलह (१६) तन्नीरामुदु (१७) मकरसंक्रांति (१८) मुक्कोटि (१९) नावलूर उत्सव (२०) रथसप्तमी (२१) क्षेत्रपाल अभिषेक (२२) संवत्सरादि (२३) संवत्सरादि आस्थान (२४) श्रीरामनवमी के दिन विशेष उत्सव. आस्थान व नैवेद्यों का प्रबंध किया जाता था है। इस सूची में आठ उत्सव नये मिलते हैं। कुछ तो विशिष्टाद्वैत से अपना संबंध ही नहीं रखते। यह शायद उस जमाने का अधिकार नीति का फल हो। इसी तालिका से यह भी मालूम पड़ता है कि नैवेद्यों के लिए पहले से कम पैसा व दान दिया जाता था। ब्रह्मोत्सवों की संख्या एक एक घट गयी। लेकिन आजकल तो साल भर में २५ एकादशी और द्वादशी के दिन, श्रवण, रोहिणी, आरुद्रा, पुनर्वसु और चित्रा के दिन, संवत्सरादि, वसंतोत्सव, संवत्सरादि के बाद वाले नित्योत्सव आस्थान, तेप्पोत्सव, धनुर्मास, अध्ययोत्सव, रथसप्तमी और ब्रह्मोत्सव के दिन विशेष उत्सव दिन माने जाते हैं, जो कुल मिला के साल में २०० दिन होते हैं।

इस संधिकाल में भी श्रीवेंकटेश्वर के नाम पर कितने ही काव्य रचे गये। चेल्लपल्लि वेंकटार्य का श्रीकृष्णाविलास काव्य, श्रेष्ठलूरि वेंकटाचार्य का श्रीनिवास विलास सेवधि, कृष्णकवि का शकुंतला परिणय, वितपल्लि वीरराघव-कवि का मधुरवाणी विलास, चेल्लपल्लि नरसकवि का वेंकटेश्वर विलास, तरिगोंड वेंकमांबा का वेंकटाचल माहात्म्य और किसी एक अज्ञात कवि का अलरमेलमंगा विलास इसी जमाने में, श्रीवेंकटेश्वर के नाम अंकित हुए। इसी तरह पत्रि रमणप्पा का वेंकटरमण शतक, भगवच्छास्त्री का तिरुमल वेंकटेशशतक, ऊरिमूडि सूरपराजु का श्रीवेंकटेश शतक, नल्लाचक्रवर्तुल वेंकटाचारी का तिरुमलगिरि वेंकटेश शतक और मंचेल्ल कृष्णकवि का वेंकट नगाधिप शतक इसी जमाने में श्रीवेंकटेश्वर के नाम रचे गये। संस्कृत, तमिल और कन्नड जैसी भाषाओं में भी ऐसी रचनाएँ होती आयीं। ये सब तिरुमले की प्रसिद्धि में चार चांद लगानेवाले प्रयत्न साबित हुए।

शिल्प और वास्तु के क्षेत्रों में तो इस उत्तर काल में कोई उन्नति देखने में नहीं आयी। महंतों ने गाँव के पश्चिम में एक दो छोटे मंदिरों के निर्माणकार्य में अवश्य हाथ डाला, किंतु उनमें न तो किसी मूर्ति की प्रतिष्ठा हो पायी, न वे मंदिर भी आज मंदिर के रूप में रह सके। अब उनके खंडहर मात्र पाये जाते हैं। लेकिन महंतों के जमाने में कपिलतीर्थ और तिरुचानूर पद्मावती मंदिरों का महत्व अवश्य बढ़ गया। उनका वेंकटेश्वर मंदिर से एवं स्थानिक पौराणिक गाथाओं के अनुसार यात्रा से भी घनिष्ठ संबंध स्थापित हो चुका। फिर यात्रियों की सुविधा के लिए सत्र व मठ भी निर्मित हुए। इसी तरह एक

गोशाला भी बनी। उन्नत विद्या और आर्य-विद्या की ओर भी काफी उत्साह दिलाया गया और उनके पठन पाठन का प्रबंध किया गया। क्षेत्र का देश के चारों कोनों में प्रचार किया गया। उसके लिए प्रेस, प्रचारक, जैसे सभी साधन काम में लाये गये। मंदिर के उत्सवों का क्रम भी सामयिक व स्थानिक आवश्यकताओं के अनुसार रखा गया। लेकिन जहाँ तक हो सके उनकी प्राचीन परंपरा की रक्षा करते आये।

मंदिर की परंपरागत विशेषताएं

तिरुमलै मंदिर की कुछ परंपरागत विशेषताएं हैं। सब से पहले, यहाँ की मूर्ति का स्वरूप अनिश्चित है। इसे कोई शिव कहता है, तो कोई विष्णु और कोई शक्ति। आल्वारों में किसी किसी ने इसे शिवकेशव अभेदमूर्ति माना। शिलप्पाधिकारम जैसों के अनुसार इस मूर्ति के हाथ में धनुष होना चाहिए। जो हो आज यह मूर्ति विष्णु की मूर्ति मानी जाती है। मूर्ति के हस्तों में शंख और चक्र रखे मिलते हैं। नागाभरण भी इसी तरह का है। अलरमेलमंगा का पट्ट भी आभरण की तरह मूलमूर्ति के गले में रखा मिलता है। मूर्ति की भुजाओं पर के चिह्न एवं बायें हाथ की स्थिति को देखते यह अनुमान भी किया जा सकता है कि कभी उसमें धनुष रहा होगा। तिरुमलै मंदिर में श्रीवेंकटेश्वर की मूलमूर्ति को छोड़ और किसी भी मूर्ति की प्रतिष्ठा कभी नहीं हो पायी। अलगिरि नरसिंह, वरदराज, रामानुजाचार्य जैसों के अलग अलग छोटे छोटे मंदिर तो अवश्य बने, किंतु उनमें रखी मूर्तियों की नित्य पूजा का विधान नहीं है। उसी तरह गर्भालय में रखी राम परिवार, कृष्ण जैसी मूर्तियों की भी विशेष पूजा का क्रम नहीं है। हाँ श्रीराम नवमी, श्रीकृष्णजयंती जैसे अवसरों पर उनकी महत्ता अवश्य मानी जाती है किंतु सभी पूजा, अर्चना व नैवेद्य श्रीवेंकटेश्वर के नाम पर ही गुजरते हैं।

दूसरी विशेषता है, मार्गशीर्ष मास की अर्चाविधि। इस महीने में भोग श्रीनिवास के बदले श्रीकृष्ण की मूर्ति को एकांतसेवा के काम में लाते हैं। धनुर्मास में सूर्योदय के पहले हर रोज स्वामी की बिल्वपत्रों से पूजा करते हैं।

तीसरी बात यह है कि तिरुमलै में स्वामी के निर्माल्य का यात्रियों से उपभोग मना है। स्वामी का निर्माल्य रोज एक कुएँ में डाला जाता है। उसी तरह सायंकाल पूजा भी केवल अर्चकों, परिचारकों व आचार्य पुरुषों की निजी व रहस्य पूजा के रूप में गुजरती है।

चौथी विशेषता है यहाँ की वैखानस आगम के अनुसार अर्चाविधि। लेकिन बहुत सी बातों में यह न तो पूरी तरह से वैखानस पद्धति कही जा सकती है न पांचरात्र पद्धति। जो हो, कहने में यह वैखानस पद्धति है और अर्चक लोग भी वैखानस हैं। मंदिर के स्वाम्य में पेडिपल्लि नामक गांव कभी रहा था। पहले उसी गांव के वैखानस वैष्णवों को यहाँ का पूजा अर्चाकार्य मिला होगा। अब भी अर्चक कुटुंबों में एक पेडिपल्लि दीक्षित का कुटुंब मिलता है।

तिरुमल की पांचवीं विशेषता है कि यहाँ का मंत्रपुष्प। यह इसी मंदिर के लिए प्रत्येक रूप से, खास उद्देश्य से रचा मालूम पड़ता है। चारों वेदों के चार आरंभिक मंत्र, अष्टाक्षरी, राम, कृष्ण, विश्वरूप, नारायण और विष्णु रूपों की स्तुति, वैकुण्ठ से भगवान विष्णु का यहाँ आगमन जो हुआ उसकी याद दिलानेवाला श्लोक, नम्मालवार का एक पाशुर, यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य के दो श्लोक—ये सब मिलकर यहाँ का मंत्रपुष्प बनता है। तोमालसेवा आदि में भी इसी तरह इस मंदिर के प्रत्येक व विशिष्ठ मंत्र-तंत्र प्रचलित हैं।

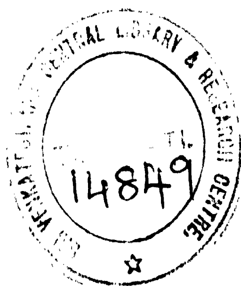
यों तो तिरुमल में मूलमूर्ति के अलावा चार उत्सव मूर्तियां दीखती हैं, जैसे भोग श्रीनिवास, मलैयप्पस्वामी, कोलुवु श्रीनिवास और उग्र श्रीनिवास। सभी उत्सवों में गर्भालय के बाहर मलैयप्प स्वामी और उभय नाच्चियारों की मूर्तियों को काम में लाया जाता है। कोलुवु श्रीनिवासमूर्ति के सामने रोज पंचांगश्रवण, आय-व्यय विवरण का निवेदन वगैरह गुजरते हैं, लेकिन बलि प्रदान के समय में भी वह मंदिर से बाहर लायी नहीं जाती। बलि भी सामूहिक रूप से एक ही ेर में बलिपीठ की सीढ़ियों पर डाली जाती है। उग्र श्रीनिवास की मूर्ति के हाथ में चक्र प्रयोग मुद्रा में दीखता है। तभी वह उग्र है। साल में दो ही दिन, मुक्कोटि एकादशी व द्वादशी के दिन उस मूर्ति को सूर्योदय के पहले ही मंदिर से बाहर निकाल कर मंदिर के आवरण में ही जुलूस में ले जाते हैं। रोज का अभिषेक और रात के समय एकांतसेवा कार्य भोग श्रीनिवास की मूर्ति के जरिये मनाये जाते हैं। नैवेद्य आदि भी इसी मूर्ति के सामने गुजरते हैं। शुक्रवार के दिन मूलमूर्ति का अभिषेक संपन्न होता है और गुरुवार की रात को स्वामी की पूलंगी (पुष्पालंकरणसेवा) होती है।

कहा जाता है कि रोज रात के वक्त श्रीवेंकटेश्वर की अर्चा ब्रह्मा जैसे देवताओं से की जाती है। इस के लिए रोज रात के सम[illegible] पांच बड़े बड़े पात्र. म पानी व पूजा द्रव्य रखे जाते हैं। सवेरे के विश्वरूप दर्श[illegible] के अवसर पर [illegible] को वही पानी तीर्थ के रूप में दिया जाता है। रोज [illegible]स्वामी [illegible] के लक्ष्मी चिह्न एवं स्वामी के श्रीचरणों में चंदन रखा [illegible] है। उसी तर[illegible]

स्वामी के चरणों में एक वस्त्र रखकर निर्माल्य को पोंछने में उसी का उपयोग करते हैं। स्वामी के माथे पर कर्पूर व कस्तूरी का तिलक रचते हैं। ठुड्डी पर भी कर्पूर लगाते हैं। ये चंदन, शेषवस्त्र, कर्पूर, वगैरह तो स्वामी के प्रसाद के रूप में अपना अधिक महत्व रखते हैं।

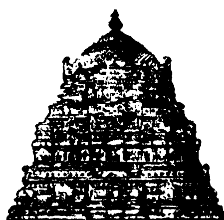
ट्रस्ट बोर्ड का निर्माण और नई प्रगति

सन १९३३ में मद्रास सरकार ने हिन्दू धर्मादाय का शासन पास करके तिरुमलै मंदिर के निर्वहण भार से महंत को छुट्टी दी और धर्मकर्ता के काम के लिए एक अलग ट्रस्टबोर्ड की नियुक्ति की। तब से अबतक की अवधि में मंदिर ने कितनी ही उन्नति की। खासकर मंदिर की आय दिन दूनी रात चौगनी होती बढ़ी। मंदिर की ओर से अब कितनी ही विद्यासंस्थाएँ चलती हैं। नये नये सत्र खुलते हैं। अनाथ शरणालय, आरोग्य केंद्र जैसे अन्य सामाजिक प्रबंध भी दिनों दिन अधिक होते नजर आते हैं। यात्री हर रोज हजारों की तादाद में आते हैं। देश के मुख्य मुख्य नगरों में प्रचार केंद्र भी खुले हैं। मंदिर को सुवर्णरंजित बनाया गया। स्वामी की शोभा में चार चांद लगाये गये। वज्र-कवच, वज्रहस्त, वज्रखचित शंखचक्र, वज्रकिरीट जैसे आभरणों के साथ साथ चांदी का रथ, सुवर्णमय गोपुर, द्वार, तोरण और विमान से यह मंदिर आज देश भर में अत्यधिक वैभवोपेत माना जाता है। पुराणों में कहा गया है कि 'कलौ वेंकटनायकः'। सचमुच यह तो प्रत्यक्षदैव है। 'वेंकटेश के समान और कोई देव नहीं' – यह अनुनित्य हजारों यात्रियों को अनुभव में आनेवाला सत्य है।



समाप्त





T. T. D. Press, Tirupati. - C. 10,000. — 28—11—80.